इतिहास दिवाकर

त्रैमासिक अनुसंधान पत्रिका

वर्ष ६ अंक ३ आश्विन मास कलियुगाब्द ५११५ अक्तूबर २०१३

मार्गदर्शक :
डॉ० शिवाजी सिंह
चेतराम
इरविन खन्ना

सम्पादक :
डॉ० विद्या चन्द ठाकुर

सह सम्पादक
चेतराम गर्ग

सम्पादक मण्डल :
डॉ० रमेश शर्मा
डॉ०ओम प्रकाश शर्मा

टंकण एवं सज्जा :
अश्वनी कालिया

सम्पादकीय कार्यालय :
ठाकुर जगदेव चन्द स्मृति शोध संस्थान,
नेरी, गांव—नेरी, डाकघर—खगल
जिला—हमीरपुर—१७७००१ (हि०प्र०)
दूरभाष : ०१९७२—२०३०४४

मूल्यः
प्रति अंक —१५.०० रुपये
वार्षिक — ६०.०० रुपय
itihasdivakar@yahoo.com
chetramneri@gmail.com

अनुक्रमणिका

सम्पादकीय

विवेकानन्दामृतम्

परोपकार में ही अपना उपकार	स्वामी विवेकानन्द	३

संवीक्षण

भारतीय इतिहास लेखन में चुनौतियां और समाधान	प्रो. शिवाजी सिंह	६
राष्ट्र का स्वरूप : चिति	पं. दीनदयाल उपाध्याय	२४
श्री और स्वस्तिक	ललित शर्मा	३२

सृष्टि आख्यान

छतीसगढ़ की लोकश्रुति में सृष्टि की उत्पत्ति	किशोर तारे	३७
कुल्लू की देव-वार्ताओं में सृष्टि रचना वृत्तान्त	डॉ० सूरत ठाकुर	३९
सतलुज नदी घाटी में सृष्टि गाथा	दीपक शर्मा	४४

सम्पादकीय

राष्ट्रीय एकात्मता का विलक्षण शक्ति स्रोत

हम सब ने बार-बार पढ़ा और सुना है कि भारतीय संस्कृति की सब से बड़ी विशेषता उसकी आध्यत्मिकता है। क्या अर्थ है, इस कथन का? क्या एक सामान्य भारतीय एक औसत अमेरिका या चीनी नागरिक से अधिक आध्यत्मिकता होता है? नहीं, ऐसा समझना गलत होगा। हम भारतीय उतने ही अच्छे या बुरे हैं जितने अन्य देशों के नागरिक। फिर भी, एक औसत भारतीय के विषय में एक विलक्षण बात यह है कि वह स्वयं जैसा भी हो, एक सन्त या महात्मा के प्रति उसके मन में आत्मस्फूर्त अगाध श्रद्धा उपजती है। बड़े-बड़े शक्तिशाली राजनेता या धनाढ़्य के लिए उसके अन्तःकरण में अकृत्रिम और आत्मस्फूर्त आदर भाव नहीं होता। सन्त और महात्मा ही उसका आदर्श है। यही और इसी प्रकार के अन्य आदर्श जो हमारे अन्तःकरण या चित्त में रच-बसे हैं, हमारे सांस्कृतिक मूल्य हैं। सुविख्यात इतिहासविद् डॉ० शिवाजी सिंह के उपरोक्त विचारों को स्वामी विवेकानन्द ने इस रूप में अभिव्यक्त किया है –

क्या आपने ऐसे देश का नाम सुना है जिसके बड़े-बड़े राजा अपने को अरण्यवासी अर्धनग्न तपस्वियों की सन्तान कहने में ही अधिक गौरव समझते हैं? यदि आपने न सुना हो तो सुनिए – हमारी मातृभूमि ही वह देश है। दूसरे देशों में बड़े-बड़े धर्माचार्य अपने को किसी राजा का वंशधर कहने की बड़ी चेष्टा करते हैं, लेकिन भारतवर्ष में बड़े-बड़े राजा अपने को किसी ऋषि की सन्तान प्रमाणित करने की चेष्टा करते हैं।

भारतवर्ष के ये सांस्कृतिक मूल्य हमारे राष्ट्र की प्रकृति है। यही प्रकृति राष्ट्र की स्वाभाविक चिन्तनधारा है जिसे चिति कहा जाता है। चिति की अवधारणा पर पण्डित दीनदयाल उपाध्याय का गहन विश्लेषण अवलोकनीय है। चिति राष्ट्रीय एकात्मता का विलक्षण शक्ति स्रोत है जिसमें राष्ट्र का स्पष्ट स्वरूप प्रकट होता है। राष्ट्र के इतिहास बोध के लिए चिति का बोध अत्यावश्यक है।

विनीत

डॉ0 विद्या चन्द ठाकुर

विवेकानन्दामृतम्

परोपकार में ही अपना उपकार

स्वामी विवेकानन्द

यह विचार करने से पहले कि कर्तव्यनिष्ठा हमें आध्यात्मिक उन्नति में किस प्रकार सहायता पहुँचाती है, मैं तुम लोगों का संक्षेप में यह भी बता देना चाहता हूँ कि भारत में जिसे हम कर्म कहते हैं, उसका एक दूसरा पक्ष क्या है। प्रत्येक धर्म के तीन विभाग होते हैं। प्रथम दार्शनिक, दूसरा पौराणिक और तीसरा कर्मकाण्ड। दार्शनिक भाग तो वास्तव में प्रत्येक धर्म का सार है। महापुरुषों की कम या अधिक काल्पनिक जीवनी तथा अलौकिक विषय सम्बन्धी कथाओं एवं आख्यायिकाओं द्वारा पौराणिक भाग इस दार्शनिक भाग की व्याख्या करता है। कर्मकाण्ड इस दर्शन को और भी स्थूल रूप देता है, जिससे वह सर्वसाधारण की समझ में आ सके। वास्तव में अनुष्ठान दर्शन का ही एक स्थूलतर रूप है। यह अनुष्ठान ही कर्म है। प्रत्येक धर्म में इसकी आवश्यकता है, क्योंकि जब तक हम आध्यात्मिक जीवन में बहुत उन्नत न हो जाएँ, तब तक सूक्ष्म आध्यात्मिक तत्त्वों को समझ नहीं सकते। मनुष्य को अपने मन में यह मान लेना सरल है कि वह कोई भी बात समझ सकता है। परन्तु जब वह उसे कार्य में लाने की चेष्टा करता है, तो उसे मालूम होता है कि सूक्ष्म भावों को ठीक ठीक समझना तथा उन्हें हृदयंगम करना बड़ा ही कठिन है। इसलिए प्रतीक विशेष रूप से सहायक होते हैं, और उनके द्वारा सूक्ष्म विषयों को समझने की जो प्रणाली है, उसे हम किसी भी प्रकार त्याग नहीं सकते। स्मरणातीत काल से ही प्रतीकों का प्रयोग प्रत्येक धर्म में होता रहा है। एक दृष्टि से हम प्रतीक के बिना किसी बात को सोच ही नहीं सकते। स्वयं शब्द हमारे विचारों के प्रतीक ही हैं। संसार की प्रत्येक वस्तु प्रतीक के रूप में देखी जा सकती है। सारा संसार ही प्रतीक है और उसके पीछे मूल तत्त्व ईश्वर रूप में विराजमान है। इस प्रकार का प्रतीक केवल मनुष्य द्वारा उत्पन्न किया हुआ ही नहीं है और न ऐसा है कि एक धर्म के कुछ अनुयायियों ने बैठकर कुछ प्रतीकों की कल्पना कर डाली है। धर्म के प्रतीकों की उत्पत्ति स्वाभाविक रूप से होती है। नहीं तो ऐसा क्यों है कि प्राय: सभी मनुष्यों के मन में कुछ विशेष प्रतीक कुछ विशिष्ट भावों से सदा सम्बद्ध रहते हैं? कुछ प्रतीक तो सभी जगह पाए जाते हैं। तुममें से अनेकों की यह धारणा है कि क्रॉस का चिन्ह सर्वप्रथम ईसाई धर्म के साथ प्रचलित हुआ; परन्तु वास्तव में तो वह ईसाई धर्म के बहुत पहले से, मूसा के भी जन्म के पहले, वेदों के आविर्भाव के भी पहले, यहां तक कि मानवीय कार्यकलापों का किसी प्रकार का

इतिहास लिपिबद्ध होने के भी पहले से विद्यमान था। ऐज़टकों तथा फ़िनिशिन्स जातियों में भी क्रॉस के विद्यमान होने का प्रमाण मिलता है। प्राय: प्रत्येक जाति में इसका अस्तित्व था। इतना ही नहीं, बल्कि ऐसा भी प्रतीत होता है कि क्रॉस पर लटके हुए महापुरुष का प्रतीक भी लगभग प्रत्येक जाति में प्रचलित था। सारे संसार में वृत्त भी एक महान् प्रतीक माना गया है। फिर सबसे अधिक प्रचलित 卐 स्वस्तिक का भी प्रतीक है। एक समय ऐसी धारणा थी कि बौद्ध इसे अपने साथ-साथ सारे संसार भर में ले गए; परन्तु पता चलता है कि बौद्ध धर्म के सदियों पहले कई जातियों में इसका प्रचार था। प्राचीन बेबिलोन तथा मिस्र देश में भी यह पाया जाता था। इस सबसे क्या प्रकट होता है? यही कि ये सब प्रतीक रूढ़िजन्य मात्र नहीं हो सकते। इनका कोई न कोई विशेष कारण अवश्य रहा होगा, उनमें तथा मानवीय मन में कोई स्वाभाविक सम्बन्ध रहा होगा। भाषा भी कोई रूढ़िजन्य वस्तु नहीं है, ऐसी बात नहीं कि कुछ लोगों ने यह तय कर लिया कि कुछ विशेष भाव कुछ विशेष शब्दों द्वारा प्रकट कियें जाएँ और बस, भाषा की उत्पत्ति हो गयी। कोई भी भाव अपने आनुषंगिक शब्द बिना और कोई शब्द अपने आनुषंगिक भाव बिना कभी रहा नहीं। शब्द और भाव स्वभावत: अविच्छेद्य है। भावों को प्रकट करने के लिए शब्द– प्रतीक अथवा वर्ण–प्रतीक हो सकते हैं। गूँगों और बहरों को शब्द–प्रतीक से भिन्न किसी दूसरे प्रतीक की सहायता लेनी पड़ती है। मन में उठनेवाले प्रत्येक विचार का एक अन्य समानुरूपी भी होता है, और वह है––आकृति। इसे संस्कृत दर्शन में 'नाम-रूप' कहते हैं। जिस प्रकार कृत्रिम उपायों द्वारा एक भाषा नहीं उत्पन्न की जा सकती, उसी प्रकार कृत्रिम उपायों से प्रतीक–विधान का निर्माण भी नहीं किया जा सकता। संसार में कर्मकाण्डीय प्रतीकों में हमें मानव जाति के धार्मिक विचारों की एक अभिव्यक्ति मिलती है। यह कह देना बहुत सरल है कि अनुष्ठानों, मन्दिरों तथा अन्य बाह्य आडम्बरों की कोई आवश्यकता नहीं, और यह बात तो आज कल बच्चे तक कहा करते हैं। परन्तु सरलतापूर्वक यह कोई भी देख सकता है कि जो लोग मन्दिर में पूजा करते हैं, वे उन लोगों की अपेक्षा, जो ऐसा नहीं करते, कई बातों में कहीं भिन्न होते हैं। भिन्न-भिन्न धर्मों के साथ जो विशिष्ट मन्दिर, अनुष्ठान और अन्य स्थूल क्रिया-कलाप जुड़े हुए हैं, वे उन-उन धर्मावलबिंयों के मन में उन सब भावों को जाग्रत कर देते हैं, जिनके कि यह मन्दिर–अनुष्ठानादि स्थूल प्रतीकस्वरूप हैं। अतएव अनुष्ठानों एवं प्रतीकों को एकदम उड़ा देना उचित नहीं। इन सब विषयों का अध्ययन एवं अभ्यास स्वभावत: कर्मयोग का ही एक अंग है।

इस कर्मविज्ञान के और भी कई पहलू हैं। इनमें से एक है ––'विचार' तथा 'शब्द' के सम्बन्ध को जानना एवं यह भी ज्ञान प्राप्त करना कि शब्द–शक्ति से क्या प्राप्त किया जा सकता है। प्रत्येक धर्म शब्द की शक्ति को मानता है; यहां तक कि किसी-किसी धर्म की तो यह धारणा है कि समस्त सृष्टि 'शब्द' से ही निकली है। ईश्वर के संकल्प का बाह्य आकार 'शब्द' है और चूंकि ईश्वर

ने सृष्टि रचना के पूर्व संकल्प एवं इच्छा की थी, इसलिए सृष्टि 'शब्द' से ही निकली है। हमारे इस भौतिकतापरायण जीवन के कोलाहल में हमारी नाड़ियों में भी जड़ता आ गई है। ज्यों-यों हम बूढ़े होते जाते हैं और संसार की ठोकरें खाते जाते हैं, त्यों-ज्यों हममें अधिकाधिक जड़ता आती जाती है और फलस्वरूप हम उन घटनाओं की भी उपेक्षा कर देते हैं, जो हमारे चारों ओर निरन्तर घटित होती रहती हैं। परन्तु कभी-कभी मनुष्य की प्रकृति अपनी सत्ता को प्रतिष्ठापित करना चाहती है और हम इन साधारण घटनाओं का रहस्य जानने का यत्न करने लगते हैं तथा उन पर आश्चर्य करते हैं। इस प्रकार आश्चर्यचकित होना ही ज्ञान लाभ की पहली सीढ़ी है। 'शब्द' के उच्च दार्शनिक तथा धार्मिक महत्त्व के अतिरिक्त हमारे इस जीवन नाटक में शब्द प्रतीकों का विशेष स्थान है। मैं तुम से बातचीत कर रहा हूं। तुम्हें स्पर्श नहीं कर रहा हूं। पर मेरे शब्द द्वारा उत्पन्न वायु के स्पन्दन तुम्हारे कान में जाकर तुम्हारे कर्ण— स्नायुओं को स्पर्श करते हैं और उससे तुम्हारे मन में प्रभाव उत्पन्न करते हैं। इसे तुम रोक नहीं सकते। भला सोचो तो, इससे अधिक आश्चर्यजनक बात और क्या हो सकती है? एक मनुष्य दूसरे को बेवकूफ कह देता है और बस, इतने से ही वह दूसरा मनुष्य उठ खड़ा होता है और अपनी मूठ्ठी बांधकर उसकी नाक पर एक घूंसा जमा देता है। देखो तो, शब्द में कितनी शक्ति है! एक स्त्री बिलख-बिलख कर रो रही है; इतने में एक दूसरी स्त्री आ जाती है और वह उससे कुछ सान्त्वना के शब्द कहती है। प्रभाव यह होता है कि वह रोती हुई स्त्री उठ बैठती है, उसका दु:ख दूर हो जाता है और वह मुस्कराने भी लगती है। देखो तो, शब्द में कितनी शक्ति है! उच्च दर्शन में जिस प्रकार शब्द—शक्ति का परिचय मिलता है, उसी प्रकार साधारण जीवन में भी। इस शक्ति के सम्बन्ध में विशेष विचार और अनुसन्धान न करते हुए ही हम रात-दिन इस शक्ति का उपयोग कर रहे हैं। इस शक्ति के स्वरूप को जानना तथा इसका उत्तम रूप से उपयोग करना भी कर्मयोग का एक अंग है।

दूसरों के प्रति हमारे कर्तव्य का अर्थ है——दूसरों की सहायता करना, संसार का भला करना। हम संसार का भला क्यों करें? इसलिए कि देखने में तो हम संसार का उपकार करते हैं, परन्तु असल में हम अपना ही उपकार करते हैं। हमें सदैव संसार का उपकार करने की चेष्टा करनी चाहिए, और कार्य करने में यही हमारा सर्वोच्च उद्देश्य होना चाहिए। परन्तु यदि ध्यानपूर्वक देखा जाए, तो प्रतीत होगा कि संसार को हमारी सहायता की बिल्कुल आवश्यकता नहीं। यह संसार इसलिए नहीं बना कि हम अथवा तुम आकर इसकी सहायता करें। एक बार मैंने एक उपदेश पढ़ा था, वह इस प्रकार था——'यह सुन्दर संसार बड़ा अच्छा है, क्योंकि इसमें हमें दूसरों की सहायता करने के लिए समय तथा अवसर मिलता है।' ऊपर से तो यह भाव सचमुच सुन्दर है, परन्तु यह कहना कि संसार को हमारी सहायता की आवश्यकता है, क्या घोर ईश—निन्दा नहीं है? यह सच है कि संसार में दु:ख-कष्ट बहुत हैं, और इसलिए लोगों की सहायता करना हमारे लिए सर्वश्रेष्ठ कार्य है; परन्तु आगे चलकर हम देखेंगे कि दूसरों की सहायता करने का अर्थ है, अपनी ही सहायता

करना। मुझे स्मरण है, एक बार जब मैं छोटा था, तो मेरे पास कुछ सफ़ेद चूहे थे। वे चूहे एक छोटे से सन्दूक में रखे गये थे और उस सन्दूक के भीतर उनके लिए छोटे-छोटे चक्के थे। जब चूहे उन चक्कों को पार करना चारहते, तो वे चक्के वहीं के वहीं घूमते रहते, और वे बेचारे कभी बाहर नहीं निकल पाते। बस, यही हाल संसार का तथा संसार के प्रति हमारी सहायता का है। उपकार केवल इतना ही होता है कि हमें नैतिक शिक्षा मिलती है। यह संसार न तो अच्छा है, न बुरा। प्रत्येक मनुष्य अपने लिए अपना अपना संसार बना लेता है। यदि एक अन्धा संसार के बारे में सोचता है, तो वह उसके समक्ष या तो मुलायम या कड़ा प्रतीत होगा, अथवा शीत या उष्ण। हम सुख या दु:ख की समष्टि मात्र हैं, यह हमने अपने जीवन में सैंकड़ों बार अनुभव किया है। बहुधा नौजवान आशावादी होते हैं, और वृद्ध निराशावादी। तरुण के सामने अभी उसका सारा जीवन पड़ा है। परन्तु वृद्ध की केवल यही शिकायत रहती है कि उसका समय निकल गया; कितनी ही अपूर्ण इच्छाएं उसके हृदय में मचलती रहती है, जिन्हें पूर्ण करने की शक्ति उसमें आज नहीं। परन्तु है दोनों ही नादान। हमारी मानसिक स्थिति के अनुसार ही हमें यह संसार भला या बुरा प्रतीत होता है। स्वयं यह न तो भला है, न बुरा । अग्नि स्वयं न अच्छी है, न बुरी। जब यह हमें गरम रखती है, तो हम कहते हैं, ''यह कितनी सुन्दर है!'' परन्तु जब इससे हमारी अंगुली जल जाती है, तो हम दोष देते हैं। परन्तु फिर भी स्वयं न तो यह अच्छी है, न बुरी। जैसा हम इसका उपयोग करते हैं, तदनुरूप यह अच्छी या बुरी बन जाती है। यही हाल इस संसार का भी है। संसार स्वयं पूर्ण है। पूर्ण होने का अर्थ यह है कि उसमें अपने सब प्रयोजनों को पूर्ण करने की क्षमता है। हमें यह निश्चित जान लेना चाहिए कि हमारे बिना भी यह संसार बड़े मज़े से चलता जाएगा; हमें इसकी सहायता करने के लिए माथापच्ची करने की आवश्यकता नहीं।

परन्तु फिर भी हमें सदैव परोपकार करते ही रहना चाहिए। यदि हम सदैव यह ध्यान रखें कि दूसरों की सहायता करना एक सौभाग्य है, तो परोपकार करने की इच्छा हमारी सर्वोत्कृष्ट प्रेरणा है। एक दाता के ऊंचे आसन पर खड़े होकर और अपने हाथ में दो पैसे ले कर यह मत कहो, ''हे भिखारी, ले, यह मैं तुम्हें देता हूं।'' परन्तु तुम स्वयं इस बात के लिए कृतज्ञ होओ कि तुम्हें वह निर्धन व्यक्ति मिला, जिसे दान देकर तुमने स्वयं अपना उपकार किया। धन्य पानेवाला नहीं होता, देनेवाला होता है। इस बात के लिए कृतज्ञ होओ कि इस संसार में तुम्हें अपनी दयालुता का प्रयोग करने और इस प्रकार पवित्र एवं पूर्ण होने का अवसर प्राप्त हुआ। समस्त भले कार्य हमें शुद्ध बनने तथा पूर्ण होने में सहायता करते हैं और सच पूछो तो हम अधिक से अधिक कर ही कितना सकते हैं? या तो एक अस्पताल बनवा देते हैं, सड़कें बनवा देते हैं या सदावर्त खुलवा देते हैं, बस, इतना ही तो? हम गरीबों के लिए एक कोष खोल देते हैं, दस-बीस डालर इकट्ठा कर लेते हैं। उसमें से पांच लाख का एक अस्पताल बनवा देते हैं, पांच लाख नाच-तमाशे, शैम्पेन पीने में फूंक देते हैं और शेष का आधा कर्मचारी लूट लेते हैं, बाक़ी जो बचता है, वह किसी तरह ग़रीबों तक पहुंचता

है! परन्तु उतने से हुआ क्या? प्रचंड तूफ़ान का एक झोंका तो तुम्हारी इन सारी इमारतों को पांच मिनट में नष्ट कर दे सकता है—फिर तुम क्या करोगे? ज्वालामुखी का एक विस्फोट तो तुम्हारी तमाम सड़कों, अस्पतालों, नगरों और इमारतों को धूल में मिला दे सकता है। अतएव इस प्रकार की संसार की सहायता करने की खोखली बातों को हमें छोड़ देना चाहिए। यह संसार न तो तुम्हारी सहायता का भूखा है और न मेरी। परन्तु फिर भी हमें निरन्तर कार्य करते रहना चाहिए, निरन्तर परोपकार करते रहना चाहिए। क्यों? — इसलिए कि इससे हमारा ही भला है। यही एक साधन है, जिससे हम पूर्ण बन सकते हैं। यदि हमने किसी भिखारी को कुछ दिया हो, तो वास्तव में वह हमारे प्रति एक सेंट का ऋणी नहीं है, हमीं उसके ऋणी हैं, हम पर उसका आभार है, क्योंकि उसने हमें इस बात का अवसर दिया कि अपनी दया का प्रयोग उस पर कर सकें। यह सोचना निरी भूल है कि हमने संसार का भला किया अथवा कर सकते हैं, या यह कि हमने अमुक अमुक व्यक्तियों की सहायता की। यह निरी मूर्खता का विचार है और मूर्खता के विचारों से दु:ख उत्पन्न होता है। हम कभी कभी सोचते हैं कि वह हमें धन्यवाद दे; पर जब वह हमें धन्वाद नहीं देता, तो उससे हमें दु:ख होता है। हम जो कुछ करें, उसके बदले में किसी भी बात की आशा क्यों रखें? बल्कि हमें उसी मनुष्य के प्रति कृतज्ञ होना चाहिए, जिसकी हम सहयता करते हैं—– उसे साक्षात् नारायण मानना चाहिए। मनुष्य की सहायता द्वारा ईश्वर की उपासना करना क्या हमारा परम सौभाग्य नहीं है? यदि हम वास्तव में अनासक्त हैं, तो हमें यह वृथा प्रत्याशाजनित कष्ट क्यों होना चाहिए? अनासक्त होने पर तो हम प्रसन्नतापूर्वक संसार में भलाई कर सकते हैं। अनासक्ति से किये हुए कार्य से कभी भी दु:ख अथवा अशान्ति नहीं आयेगी। वैसे तो संसार में अनन्त काल तक सुख-दु:ख का चक्र चलता ही रहेगा।

मनुष्य पहले यह जान ले कि आसक्तिरहित होकर उसे किस प्रकार कर्म करना चाहिए, तभी वह दुराग्रह और मतान्धता से परे हो सकता है। यदि संसार में यह दुराग्रह, यह कट्टरता न होती, तो अब तक यह बहुत उन्नति कर लेता। यह सोचना भूल है कि धर्मान्धिता द्वारा मानव—जाति की उन्नति हो सकती है? बल्कि उलटे, यह तो हमें पीछे हटाने—वाली शक्ति है, जिससे घृणा और क्रोध उत्पन्न होकर मनुष्य एक दूसरे से लड़ने-भिड़ने लगते हैं और सहानुभूतिशून्य हो जाते हैं। हम सोचते हैं कि जो कुछ हमारे पास है अथवा जो कुछ हम करते हैं, वही संसार में सर्वश्रेष्ठ है और जो कुछ हम नहीं करते अथवा जो कुछ हमारे पास नहीं है, वह एक कौड़ी मूल्य का भी नहीं। तुम्हें अपने आपको संसार के बारे में चिन्तित बना लेने की कोई आवश्यकता नहीं—तुम्हारी सहायता के बिना भी यह चलता ही रहेगा। जब तुम दुराग्रह और मतान्धता से परे हो जाओगे, तभी तुम अच्छी तरह कार्य कर सकोगे। जो व्यक्ति ठंडे मस्तिष्कवाला और शान्त है, जो उत्तम ढंग से विचार करके कार्य करता है, जिसके स्नायु सहज ही उत्तेजित नहीं हो उठते तथा जो अत्यन्त प्रेम और सहानुभूति सम्पन्न है, केवल वही व्यक्ति संसार में महान् कार्य कर सकता है और इस तरह उससे अपना भी

कल्याण कर सकता है। दुराग्रही व्यक्ति मूर्ख और सहानुभूतिशून्य होता है। वह न तो कभी संसार को सीधा कर सकता है और न ही स्वयं शुद्ध एवं पूर्ण हो सकता है।

इस प्रकार सारांश यह है कि सर्वप्रथम हमें यह ध्यान में रखना चाहिए कि हमीं संसार के ऋणी हैं, संसार हमारा ऋणी नहीं। यह तो हमारा सौभाग्य है कि हमें संसार में कुछ कार्य करने का अवसर मिलता है। संसार की सहायता करने से हम वास्तव में स्वयं अपना ही कल्याण करते हैं। दूसरी बात यह है कि इस विश्व का अधिष्ठाता एक ईश्वर है। यह बात सच नहीं कि यह संसार पिछड़ रहा है और इसे तुम्हारी अथवा मेरी सहायता की आवश्यकता है। ईश्वर सर्वत्र विराजमान है। वह अविनाशी सतत क्रियाशील और जाग्रत है। जब सारा विश्व सोता है, तब भी वह जागता रहता है। वह निरन्तर कार्य में लगा हुआ है। संसार के समस्त परिवर्तन और विकार उसी के कार्य हैं। तीसरी बात यह है कि हमें किसी से घृणा नहीं करनी चाहिए। यह संसार सदैव ही शुभ और अशुभ का मिश्रणस्वरूप रहेगा। हमारा कर्तव्य है कि हम दुर्बल के प्रति सहानुभूति रखें और एक अन्यायी के प्रति भी प्रेम रखें। यह संसार तो चरित्र-गठन के लिए एक विशाल नैतिक व्यायामशाला है। इसमें हम सभी को अभ्यासरूप कसरत करनी पड़ती है, जिससे हम आध्यात्मिक बल से अधिकाधिक बलवान बनते रहें। चौथी बात यह है कि हममें किसी प्रकार का भी दुराग्रह नहीं होना चाहिए, क्योंकि दुराग्रह प्रेम का विरोधी है। बहुधा दुराग्रहियों को तुम यह गाल बजाते सुनोगे, ''हमें पापी से घृणा नहीं है, हमें तो घृणा पाप से है।'' परन्तु यदि कोई मुझे एक ऐसा मनुष्य दिखा दे, जो सचमुच पाप और पापी में भेद कर सकता हो, तो ऐसे मनुष्य को देखने के लिए मैं कितनी भी दूर जाने को तैयार हूं, ऐसा कहना सरल है। यदि हम द्रव्य और उसके गुण में भली-भान्ति भेद कर सकें, तो हम पूर्ण हो जाएं। पर इसे व्यवहार में लाना इतना सरल नहीं। हम जितने ही शान्तचित होंगे और हमारे स्नायु जितने संतुलित रहेंगे, हम उतने ही अधिक प्रेमसम्पन्न होंगे और हमारा कार्य भी उतना ही अधिक उत्तम होगा।

संवीक्षण ✍

भारतीय इतिहास लेखन में चुनौतियां और समाधान

प्रो. शिवाजी सिंह

भारतीय इतिहास कई दृष्टियों से लिखा गया है और लिखा जा रहा है। फलत: इसके विविध प्रकार के संस्करण जिनमें परस्परा विरोधी स्वर एवं निष्कर्ष उपलब्ध होते हैं, साथ-साथ प्रचलित है। इससे एक संभ्रमात्मक स्थिति उत्पन्न है और राष्ट्रीय प्रगति के लिए अत्यावश्यक इतिहास-चेतना के समुचित निर्माण में बाधा उत्पन्न हो रही है। प्रश्न है, ऐसा क्यों? ऐतिहासिक यथार्थ एक, पर व्याख्यायें अनेक क्यों? इस प्रश्न पर विचार करेंगे तो पायेंगे कि ऐतिहासिक व्याख्याओं या निर्वचनों में मिलने वाली विभिन्नतायें दो प्रकार से उत्पन्न हुई हैं। एक कोटि उन विभिन्नताओं की है जो अचिन्तित या अनवधानित (इनऐडवर्टेंट) हैं। दूसरी कोटि उन विभिन्नताओं की है जो सोद्देश्य (इंटेंशनल) हैं अर्थात् जानबूझकर उत्पन्न की गई है।

ऐतिहासिक व्याख्याओं की अनवधानित विविधता

ऐतिहासिक यथार्थ इतिहासकार के मन-मस्तिष्क से गुजर कर ही लिखित इतिहास का स्वरूप ग्रहण करता है। इस प्रक्रिया में इतिहासकार की भूमिका उस दर्पण के तुल्य होती है जिसमें वास्तविक जगत की वस्तुओं के प्रतिबिम्ब बनते हैं। दर्पण जितना ही त्रुटिहीन बना होता है, प्रतिबिम्ब उतने ही अधिक स्पष्ट और वस्तु के अधिकाधिक समरूप बनते हैं। जबकि दर्पण के त्रुटिपूर्ण होने पर प्रतिबिम्ब विकृत हो जाते हैं। इतिहासकार का दायित्व भी ऐतिहासिक यथार्थ का यथासम्भव वास्तविक चित्र उकेरना है किन्तु इस सन्दर्भ में उसका कार्य दर्पण से कहीं अधिक दुष्कर है। कारण, इतिहासकार जिस ऐतिहासिक यथार्थ को प्रतिबिम्बित करना चाहता है वह दर्पण के सम्मुख रखी गई किसी वस्तु के समान साकार नहीं होता।

वर्षा के पश्चात् आकाश में छितराये मेघों में जैसे हम विभिन्न आकृतियां तलाशते हों, बहुत कुछ उसी प्रकार इतिहासकार ऐतिहासिक यथार्थ के बिखरे और असंगठित सामग्री के बीच एक अर्थपूर्ण पैटर्न, प्रणाली, प्रतिमान, अथवा धारावाहिकता की खोज में लगा रहता है। आकाश में छाये बादलों में हमें किसी पशु की आकृति दिखाई देती है या पर्वत की, यह बादलों की स्थिति से अधिक हमारे मानसिक प्रक्षेपण पर निर्भर करता है। लगभग उसी प्रकार किसी ऐतिहासिक यथार्थ का क्या रूप है और वह किस दृष्टि से अर्थपूर्ण है, यह ऐतिहासिक यथार्थ की अनगढ़ कच्ची सामग्री से अधिक इतिहासकार की अपनी सोच और सूझ पर आश्रित है।

इतिहास की रचना-प्रक्रिया में इतिहासकार की सोच और समझ की भूमिका सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण है। किसी इतिहासकार की ऐतिहासिक सोच और समझ या कहें, उसकी अपनी इतिहास दृष्टि उसके व्यक्तित्व का अविभाज्य अंग होती है। जैसा कि हम जानते हैं, व्यक्तित्व का निर्माण

स्वयं में एक संश्लिष्ट प्रक्रिया है। कोई व्यक्ति कब और कहां पैदा हुआ, उसे किस प्रकार की शारीरिक एवं बौद्धिक विरासत प्राप्त हुई, किस प्रकार के मित्रों के बीच वह खेला और बड़ा हुआ, उसे कैसे शिक्षक मिले, उसने किस प्रकार की पुस्तकों का अध्ययन किया, किन सामाजिक हलचलों और वैचारिक उहापोहों से वह आन्दोलित हुआ, किन विशिष्ट प्राकृतिक तथा सांस्कृतिक परिवेशों से वह गुजरा, इन और इसी प्रकार की समस्त परिस्थितियों की उसके मन-मस्तिष्क पर पड़े संश्लिष्ट प्रभावों के फल स्वरूप ही उसका व्यक्तित्व निर्मित होता है। पुनश्च, व्यक्ति और उसे उपलब्ध ऐतिहासिक सूचनाओं और सामग्री के बीच भी क्रिया-प्रतिक्रिया का एक गतिशील सन्तुलन (डाइनमिक इक्वीलिब्रियम) स्थापित रहता है जो उसकी इतिहास-दृष्टि का सृजन और विकास करता है।

इतिहासकारों की अपनी अलग-अलग इतिहास दृष्टियों के कारण एक ही देश-काल पर रचित उनकी कृतियों में ऐतिहासिक तर्कों एवं निष्कर्षों की विभिन्नता अस्वाभाविक नहीं। पर, महत्त्वपूर्ण यह है कि यह ये भिन्नताएं अनवधानित हों, साभिप्राय नहीं। हम उन उपायों की तलाश कर सकतें हैं जिनसे लिखित इतिहास ऐतिहासिक यथार्थ के अधिकाधिक समरूप हो, वह इतिहासकार की अपनी व्यक्तिगत मानसिक सृष्टि मात्र न रह जाए।

सोद्देश्य की गई ऐतिहासिक व्याख्यायें

इतिहास एक अनुशासन है। उसकी अपनी सुनिश्चित एवं सार्वभौमिक शोध-पद्धतियां और क्रियाविधियां है। उसके अपने मानक या आदर्श (नार्म्स) हैं। इस अनुशासन की एक सुस्थापित वैश्विक मान्यता यह है कि इतिहासकार का कार्य एक न्यायाधीश की तरह तथ्यों एवं साक्ष्यों के सम्यक् जांच-पड़ताल के बाद निष्कर्ष पर पहुंचना है। निष्कर्षों के अवनिश्चयन में वह तटस्थ होता है। सामग्री और प्रमाणों की असमान उपलब्धता तथा वैयक्तिक मानस-भिन्नता के कारण इतिहासकारों के निष्कर्षों में अन्तर हो सकता है। पर यह सब तो न्यायाधीशों के लिए भी उतना ही स्वाभाविक है जितना इतिहासकारों के लिए। इसीलिए नवीन तथ्यों एवं साक्ष्यों के आलोक में न्यायालीय निर्णय भी बदलते हैं और ऐतिहासिक उपसंहार भी।

इतिहास की स्वाभाविक रचना में व्यतिक्रम तब प्रारम्भ होता है जब कोई इतिहासकार या इतिहासकारों का समूह न्यायाधीश का छद्मवेश धारण कर उस अधिवक्ता की तरह आचरण करने लगता है जिसका उद्देश्य सत्य का निश्चचन नहीं अपितु अपने ग्राहक का पक्षपोषण होता है। वह तथ्यों एवं प्रमाणों की अनदेखी करने, उन्हें दबाने अथवा तोड़मरोड़ कर प्रस्तुत करने का अभ्यस्त हो जाता है। फलतः इतिहास का विरूपीकरण होने लगता है जिसका निराकरण एक चुनौती बन जाता है।

भारतीय इतिहास लेखन के क्षेत्र में उपस्थित चुनौतियां

राजनैतिक स्वार्थों एवं धार्मिक पूर्वाग्रहों से अभिप्रेरित तथा अपनी विचारधारा-विशेष से प्रतिबद्ध इन 'मोटिवेटेड' और 'कमिटेड' नामोद्दिष्ट अधिवक्ता-छाप इतिहासकारों ने औपनिवेशिक काल और उसके बाद भारतीय इतिहास में क्या विकृतियां उत्पन्न कीं, उनसे हम सब न्यूनाधिक

परिचित हैं। इधर हाल में इन विकृतियों के निराकरण में एक सीमा तक सफलता मिली है, किन्तु इस दिशा में अभी और अधिक सघन प्रयास अपेक्षित है। उसके साथ ही हमें उन नई चुनौतियों पर भी ध्यान देना है जो सूचना-क्रान्ति एवं वैश्विकरण के इस अभूतपूर्व दौर में नित्य नये-नये रूपों में उपस्थित हो रही हैं। इक्कीसवीं शती के प्रारम्भिक वर्षों में ही इन अचिरोतपन्न चुनौतियों में से कुछ इतनी विशाल एवं विध्वंसक हो चुकी हैं कि केवल भारतीय इतिहास ही नहीं, भारतीय अस्मिता तथा स्वयं भारत की अवधारणा या कहें, 'द वेरी आइडिया ऑफ इण्डिया' के भी आमूलचूल विद्रूपण का खतरा उत्पन्न हो गया है।

मेरी समझ में आज आवश्यकता है एक बहुआयामी प्रकल्प की जिसमें विविध प्रकार की चुनौतियों को चिह्नित कर उनके निराकरण का संगठित प्रयास किया जाए। भारतीय इतिहास में सोद्देश्य उत्पन्न की गई विकृतियों का अपसारण चुनौतियों की प्रथम और निश्चित ही सर्वाधिक अविलम्बनीय कोटि है क्योंकि इन विकृतियों से राष्ट्र और समाज की अत्याधिक हानि हुई है और हो रही है। चुनौतियों की एक दूसरी कोटि भारतीय इतिहास के क्षेत्र में अनुशासनात्मक परिष्कार की है। इसके भी कई पक्ष हैं जैसे अवधारणाओं का परिमार्जन, शोध पद्धति का आधुनिकीकरण, परीक्षणीय प्रतिमानों (मॉडल्स) का सृजन, आदि। तीसरी कोटि की चुनौती उन उपायों की खोज है जिनमें इतिहास लेखन यथासंभव वस्तुनिष्ठ हो सके अर्थात लिखित इतिहास घटित इतिहास के अधिकाधिक समरूप हो और वह इतिहासकार की वैयक्तिक पृष्ठभूमि से न्यूनतम प्रभावित हो। वस्तुत: यह चुनौती अनुशासनात्मक परिष्कार की चुनौती से गहराई से जुड़ी है तथा इस का समाधान बहुत कुछ अनुशासनात्मक परिष्कार की सफलता एवं स्तर पर ही अवलम्बित है।

चुनौतियों की एक चौथी कोटि भी है जो सर्वाधिक चिन्तनीय है। संप्रति विभिन्न विचारधाराओं से संबन्धित ऐतिहासिक निदर्शनों (हिस्टॉरिकल पैराडाइम्स) के बीच वर्चस्व के लिए संघर्ष जारी है। अभी हाल तक भारतीय इतिहास लेखन में तीन दृष्टियों की ही चर्चा की जाती थी : एक, औपनिवेशिक साम्राज्यवादी जो अंग्रेज शासकों एवं उनके समर्थकों की दृष्टि थी, दूसरी, राष्ट्रवादी जो राष्ट्रीयता की भावना से प्रेरित, साम्राज्यवादी इतिहास के आलोचक भारतीय इतिहासकारों की दृष्टि थी और तीसरी मार्क्सवादी दृष्टि जो स्वतन्त्रता प्राप्ति के तत्काल बाद की अंतर्राष्ट्रीय परिस्थितियों में भारतीय एवं रूसी इतिहासकारों के बीच विकसित सन्निकटता से पुष्पित एवं पल्लवित हुई थी। पर, आज स्थिति भिन्न है और भारतीय इतिहास लेखन कई अन्य दृष्टियों से भी हो रहा है। अब अंग्रेज शासक नहीं रहे, न भारत में ब्रिटिश साम्राज्य बनाए रखने की उनकी चिन्ता रही, पर उनकी इतिहास-दृष्टि 'पाश्चात्य विशिष्ट वर्गीय' (वेस्टर्न एलीटिस्ट) दृष्टि के रूप में आज भी प्रचलित है। इसी प्रकार, शीत युद्ध का युग वर्षों पहले समाप्त हो गया, आज भारत रूस से अधिक अमेरिका की ओर झुका दिखाई दे रहा है, फिर भी इतिहास में, ' सेक्युलर मार्क्सवादी' दृष्टि का वर्चस्व कायम है। भारतीय राष्ट्रवादी इतिहास लेखन में भी अभूतपूर्व निखार आया है पर इस वर्ग के इतिहासकारों को मार्क्सवादी की जगह अब 'हिन्दू राष्ट्रवादी' कहने की परम्परा चल पड़ी है।

भारतीय इतिहास लेखन के क्षेत्र में इधर हाल में जो नवीन दृष्टिकोण उभर कर सामने आए

हैं उनमें 'सब-अल्टर्न' दृष्टि प्रमुख है। यह एक उत्तर-आधुनिक (पोस्टमाडर्न) एवं उत्तर-संरचनावादी (पोस्ट-स्ट्रक्चरलिस्ट) दृष्टि है जो समाज के उपाश्रितों या कहें, अधीनस्थ गौण वर्गों को केन्द्र में रखते हुए इतिहास की रचना करना चाहती है। 'सब-अल्टर्न' शब्द एक प्रकार से 'एलीट' का विलोम या प्रतिपक्ष है, लगभग उसी प्रकार जैसे बुर्जुआ का प्रतिपक्ष सर्वहारा। 'सब-अल्टर्न' दृष्टि के प्रस्तावकों की यह मान्यता है कि अभी तक जो भी इतिहास लिखा गया है वह केवल विशिष्ट वर्ग को ध्यान में रखकर लिखा गया है और उसमें उपाश्रित वर्गों के संघर्ष एवं सरोकारों के लिए कोई स्थान नहीं है। इसे वे 'आफीसियल हिस्ट्री' या सरकारी इतिहास मानते हुए अस्वीकार करते हैं। इतिहास की इन पुस्तकों को वे पढ़ते तो हैं पर उन्हें 'अगेंस्ट द टेक्स्ट' पढ़ते हैं अर्थात् उनका भिन्नार्थ ग्रहण करते हैं।

'सब-अल्टर्न' स्पष्टत: एक वामपंथी किन्तु मार्क्सवादी से भिन्न दृष्टिकोण है। यह वस्तुत: पाश्चात्य हिस्ट्री फ्राम बिलो' दृष्टि का भारतीय संस्करण है। यह दृष्टि इतिहास में राज्य और राष्ट्र की भूमिका को महत्त्व नहीं देती। इटली के मार्क्सवादी विचारक एण्टोनिओ ग्राम्शी द्वारा प्रस्तुत 'सब-अल्टर्न' अवधारणा को यह दृष्टि अपने ढंग से परिभाषित करती है। इसमें वर्ग-संघर्ष के स्थान पर विशिष्ट-उपाश्रित द्वन्द्व के विश्लेषण पर जोर दिया जाता है। इस अन्तर के कारण मार्क्सवादी इतिहासकारों ने 'सब-अल्टर्न' दृष्टि की आलोचना की है। भारतीय इतिहास के क्षेत्र में 'सब-अल्टर्न' दृष्टि उसी प्रकार का एक नवीन आन्दोलन है जैसा कि साहित्य के क्षेत्र में दलित विमर्श और नारी विमर्श। लघु या सूक्ष्म (माइक्रो) स्तर पर इस दृष्टि का जो भी विश्लेषणात्मक अवदान हो, वृहत् या व्यापक स्तर पर इतिहास की यह दृष्टि सामाजिक समरसता को खण्डित करने का एक अवांछनीय माध्यम ही सिद्ध हो रही है।

भारतीय इतिहास लेखन में कतिपय इतिहासकारों द्वारा अपनाई गई एक अन्य दृष्टि विखण्डनवाद (डिकंस्ट्रक्टनिज्म) के नाम से प्रसिद्ध है। यह भी उत्तर -आधुनिकतावाद का ही एक रूप है। इसके अनुसार किसी ग्रन्थ या साहित्यिक कृति का मूलार्थ समझना असंभव है। ग्रन्थों के अध्ययन में जाने-अनजाने हम अपने वैचारिक पूर्वाग्रहों को ही तलाशते और दृढ़ करते हैं। ग्रन्थों में किसी अन्तिम यथार्थ की तलाश कर और उसे परिभाषित कर जो इतिहास लिखे गये हैं उनसे प्रजातीय, सांस्कृतिक, राजनैतिक, आर्थिक, लैंगिक आदि विविध प्रकार की प्रधानताओं या प्रभुत्व की ही सृष्टि हुई है। विखण्डनवादी दृष्टि ठोस अनुभव को अमूर्त विचारों से अधिक प्रामाणिक मानती है। इसके अनुसार व्यक्ति के अनुभव की विविधता और आकस्मिकता ही उसके ज्ञान को सुनिश्चत आधार प्रदान करती है ; ऐसा कोई अन्तिम सत्य नहीं होता जिसे मानने के लिए प्रत्येक व्यक्ति विवश हो।

विखण्डनवादी दृष्टि के सर्वथा विपरीत एक अन्य दृष्टि ने भी भारतीय इतिहास लेखन को प्रभावित करना प्रारम्भ कर दिया है। यह 'अनल्स' परम्परा की दृष्टि है जिसका उद्भव फ्रांस में हुआ है। इस परम्परा का प्रारम्भ विविध प्रकार की ऐतिहासिक दृष्टियों के व्यापक तुलनात्मक अध्ययन के उपरान्त कतिपय सर्वनिष्ठ प्रवृतियों को चिन्हित करने के उद्देश्य से हुआ था। किन्तु बाद में इस परम्परा की दृष्टि किंचित परिवर्तित हुई है और राजनैतिक क्रान्तियों को महत्त्व न देकर दीर्घकालीन

सामाजिक व्यवहारों, मनोवैज्ञानिक प्रवृतियों तथा आर्थिक तथ्यों के विकास पर जोर दिया जाने लगा। मनोवृतियों का अन्तर, समाज के हाशिये पर खड़े वर्गों की स्थिति तथा विनाशकारी पर्यावरणीय परिवर्तन 'एनल्स' परम्परा के इतिहासकारों की चिन्ता के प्रमुख बिन्दु हैं। कतिपय भारतीय इतिहासकारों ने भी इतिहास की इस दृष्टि का स्वागत समर्थन एवं आंशिक प्रयोग किया है।

भारतीय इतिहास लेखन के क्षेत्र में इतने विभिन्न प्रकार की दृष्टियों के एक साथ उपस्थित होने से एक संभ्रमात्मक या कहें, बौद्धिक अराजकता की स्थिति उत्पन्न है। इससे राष्ट्रीय प्रगति एवं एकात्मकता के लिए आवश्यक इतिहास-चेतना का विकास अवरूद्ध है। इसका अपसारण भारतीय इतिहास के क्षेत्र में उपस्थित सबसे बड़ी चुनौती है। आइये, इन बिन्दुओं पर किंचित विस्तार से विचार किया जाए।

सोद्देश्य उत्पन्न की गई विकृतियों का निराकरण

भारतीय सभ्यता एक निम्न कोटि की सभ्यता है—विपन्न, पराजित और विखण्डित! यह स्वभावत: एक निष्क्रिय सभ्यता है जिसमें क्रियाशीलता का संचार सदैव किसी बाह्य प्रेरणा से ही होता रहा है। इसका समूचा इतिहास आयातित उत्प्रेरणओं का इतिहास है जो इसे आर्य, यूनानी, मंगोल, अरब, तुर्क, फारसी और यूरोपीय जैसे आक्रमणों के फलस्वरूप प्राप्त हुआ है! सारांशत: यही वह दृष्टि है जिसे जेम्स मिल ने उन्नीसवीं शती (१८४८) में रचित अपने ग्रन्थ 'द हिस्ट्री आफ ब्रिटिश इण्डिया' में और गुन्नेर मिर्दाल ने बीसवीं शती (१९७०) में लिखी गई अपनी पुस्तक 'एशियन ड्रामा' में साधिकार प्रस्तुत किया। अपने रूढ़िबद्ध (स्टीरिओटाइप्ड)रूप में यही औपनिवेशिक-मिशनरी इतिहासकारों की भारतीय इतिहास लेखन में अपनाई गई दृष्टि है। यही दृष्टि पाश्चात्य इतिहासकारों के बीच प्रचलित हुई। इस दृष्टि से लिखे गये इतिहास के माध्यम से भारतीयों के बीच भारत की कैसी छवि प्रस्तुत की गई, यह सर्वपल्ली राधाकृष्ण जी की निम्नांकित टिप्पणी से स्पष्ट है :

"The west tried its best to persuade India that its philosophy is absurd, its art puerile, its poetry uninspired, its religion grotesque and its ethics barbarous."

अर्थात् '' पश्चिम में भारत को यह समझाने का यथासंभव प्रयास किया कि उस का दर्शन बेतुका, उसकी कला बचकानी, उसका काव्य अनुत्तेजक, उसका धर्म विकृत और उसकी आचारनीति बर्बर है'' (इण्डियन फिलॉसोफी, खण्ड २, पृष्ठ ७७९)।

औपनिवेशिक-मिशनरी इतिहासकारों ने भारतीय इतिहास में अनेक मिथकों का सृजन किया। वे जानते थे कि वैदिक संस्कृति ही भारतीय संस्कृति की आधारशिला है। अत: सर्वाधिक मिथकों का निर्माण वैदिक इतिहास के क्षेत्र में किया गया। बहरहाल, अब ये मिथक एक-एक कर ध्वस्त हो रहे हैं। इनकी चर्चा मैंने अपनी हाल में प्रकाशित पुस्तक 'ऋग्वैदिक आर्य और सरस्वती-सिन्धु सभ्यता' में विस्तार से किया है, फिर भी यहां प्रस्तुत हैं कुछ उदाहरण :

(क) आर्य आक्रमण सिद्धांत का अब कोई नाम लेवा नहीं

आर्य आक्रमण सिद्धांत अब अस्वीकृत हो चुका है। शिक्षण संस्थाओं के लिए अनुमोदित

पाठ्य पुस्तकों में इस का उल्लेख होते रहने के कारण अपने देश में बहुत सारे लोगों को यह ज्ञात नहीं कि यह सिद्धांत विश्व स्तर पर १९८० के दशक में ही निरस्त किया जा चुका है। इसके कभी घोर समर्थक रहे विद्वान भी इस तथ्य को स्वीकार करते हैं। गलत पूर्व धारणाओं (एजम्सन्स) पर आधारित सिद्धान्तों को एक न एक दिन ध्वस्त होना ही पड़ता है और यही आर्य आक्रमण सिद्धांत के साथ भी हुआ। यह सिद्धांत दो आधारभूत पूर्व धारणाओं पर अवलम्बित था। एक तो यह कि हड़प्पा सभ्यता का अन्त एकाएक ई.पू. लगभग १५०० में हुआ और दूसरी यह कि मैक्समूलर द्वारा तदर्थ रूप से अनुमानित ऋग्वेद की तिथि (ई.पू. लगभग १२००) सही है। यह दोनों ही पूर्व धारणाएं असत्य साबित हुई। अत: इस सिद्धांत को ध्वस्त होना ही था।

वैसे भी इस सिद्धांत के ऐतिहासिक साक्ष्य जुटाने के सभी प्रयास असफल रहे। इसके समर्थकों को न तो साहित्य ने उपकृत किया और न ही पुरातत्त्व ने। ऐसे किसी आक्रमण का प्रमाण न तो आक्रांता घोषित कर दिये गये आर्यों के साहित्य अर्थात वैदिक ग्रन्थों में मिला और न ही आक्रान्त मान लिये गये द्रविड़ों के साहित्य अर्थात् प्राचीन तमिल ग्रन्थों में प्राप्त हुआ। पुरातत्त्व में भी आक्रमण का संकेत देने वाला कोई साक्ष्य उपलब्ध नहीं हुआ।

(ख) आर्य आगमन सिद्धांत भी असत्य प्रमाणित

आर्य आक्रमण सिद्धांत के धराशाही हो जाने के पश्चात् इसके समर्थकों ने आर्य आगमन सिद्धान्त का प्रतिपादन किया है। इसके अनुसार आर्यों ने भारत पर आक्रमण तो नहीं किया पर वे यहां बाहर से आये अवश्य हैं। वे यहां छोटे-छोटे समूहों में कई खेपों में प्रवजनकारियों के रूप में आकर बसे हैं। पर, यह नवीन या कहें, परिवर्तित सिद्धांत भी हाल में प्रकाश में आये अनेक वैज्ञानिक तथ्यों के आलोक में असत्य सिद्ध हो रहा है।

पहले पुरातत्त्व से ज्ञात एक तथ्य पर विचार करें। जैसा कि सर्वविदित है, हड़प्पा सभ्यता में तांबे से बनाए गये उपकरणों के साथ कांसे से बने उपकरण भी प्रयोग में लाये जाते थे। तांबा उन्हें आसानी से उपलब्ध था किन्तु तांबे को कांसे में परिवर्तित करने के लिए उसमें टिन मिलाने की आवश्यकता होती थी। यह टिन उन्हें खुरासान और बुखारा-समरकंद क्षेत्र से प्राप्त करना पड़ता था। हड़प्पा सभ्यता के पराभव के पश्चात् एक सहस्राब्दि से अधिक समय तक भारत में तांबे में टिन मिलाकर कांसा तैयार करने का कोई प्रमाण प्राप्त नहीं होता। टिन-आधारित कांसा न तो गंगा घाटी की ताम्रनिधि एवं चित्रित धूसर मृद्भाण्ड संस्कृतियों में प्राप्त है और न ही यह राजस्थान की आहाड़ संस्कृति और मध्यप्रदेश की कायथा संस्कृति में उपलब्ध है। स्पष्ट है कि बलूचिस्तान और उत्तरी अफगानिस्तान के क्षेत्रों से, जहां से पहले टिन आता था, सम्बन्ध टूट गया था। इस पर पुरातत्त्ववेत्ता जे.एम. केनॉयर ने ठीक ही यह प्रश्न खड़ा किया है कि यदि उस समय आर्य उसी मार्ग से संचरण करते हुए भारत में प्रविष्ट हो रहे थे तो वे कांस्य निर्माण के लिए आवश्यक इस कच्चे माल अर्थात टिन को क्यों नहीं ला रहे थे? जाहिर है कि यदि उस समय इस प्रकार को कोई संचरण हो रहा होता तो टिन का भारत में पंहुचना बंद नहीं होता।

अब एक तथ्य जैविकीय मानव विज्ञान (बॉयोलाजिकल एंथ्रोपोलॉजी) से लें। सिंधु-सरस्वती क्षेत्र के जैविकीय अनुकूलनों के गहन अध्ययन से ज्ञात हुआ है कि ईस्वी पूर्व

४५०० से ईस्वी पूर्व ८०० की अवधि में इस क्षेत्र के निवासियों की जैविकीय संरचना में किसी प्रकार का क्रमभंग नहीं हुआ है और वह निरन्तर एकसम स्थिर बनी रही है। व्यतिक्रम उत्पन्न भी हुए हैं तो इस अवधि के पहले और बाद में। इस तथ्य का जिक्र करते हुए प्रसिद्ध पुरातत्त्वज्ञ बी.बी. लाल ने उस आर्य आगमन सिद्धांत पर ठीक ही आश्चर्य व्यक्त किया है जिसमें ई.पू. १५०० के आसपास इस इलाके में वैदिक आर्यों के झुण्ड के झुण्ड प्रवेश करने की कल्पना की जाती है। यदि वस्तुत: ऐसा हुआ होता तो यहां के जैविकीय संरचना में किंचित व्यतिक्रम आवश्य दृष्टिगोचर होता।

इसके बाद अनुवंशिकी (जेनेटिक्स) से ज्ञात एक तथ्य पर ध्यान दें। थूमास किवीसील्ड और उनके साथी वैज्ञानिकों के एक दल ने भारतीय और पश्चिमी यूरेशियाई जीनपूल्स का विश्लेषण किया है। इस विश्लेषण के निष्कर्ष ब्रिटिश शोध-पत्रिका ' करेंट बायोलॉजी' के दिसम्बर १९९९ अंक में प्रकाशित हैं। हजारों पीढ़ियों के आनुवंशिक विरासत अर्थात् पीढ़ी-दर-पीढ़ी गुणसूत्रों के हस्तान्तरण को प्रकट करने में समर्थ 'माइटोकांड्रियल डी.एन.ए. परीक्षण' विधि का प्रयोग करते हुए इन वैज्ञानिकों ने जो निष्कर्ष निकाले हैं, वे चौंकाने वाले हैं। एक अति महत्त्वपूर्ण निष्कर्ष यह है कि पश्चिमी यूरेशियाई माइट्रोकांड्रियल डी.एन.ए. प्रकार जहां जर्मनी जैसे यूरोपीय देशों में ७० प्रतिशत पाया जाता है वहां भारतीय आबादी में इसकी उपस्थिति मात्र ५.२ प्रतिशत है। स्पष्ट है कि पश्चिमी यूरेशिया का (जहां से भारत में आर्यों का तथाकथित आगमन माना जाता है) ज़ीनपूल भारतीय जीनपूल से बहुत भिन्न है। सबसे महत्त्वपूर्ण तथ्य तो यह है कि उत्तर भारत और दक्षिण भारत के जीनपूल्स में समान रूप से कम (वही ५.२ प्रतिशत) यूरेशियाई डी.एन.ए प्रकार पाया जाता है। यदि आर्य आगमन वास्तव में हुआ होता तो यह यूरेशियाई डी.एन.ए. प्रकार उत्तर भारत के जीनपूल में दक्षिण भारत के जीनपूल से अधिक पाया जाता ।

अंत में एक तथ्य पशु शरीर-रचनाशास्त्र (एनिमल एनॉटोमी) से। अश्वों की शारीरिक रचना और जातीय वर्गीकरण (टैक्सोनोमी) पर प्रामाणिक अध्ययनों का संदर्भ प्रस्तुत करते हुए पी. के. मनन्सला ने यह मत प्रकट किया है कि यूरोप मध्य एशिया तथा ईरान के अश्वों की शारीरिक बनावट भारतीय देशज अश्वों की शारीरिक बनावट से भिन्न है। भारतीय अश्वों में सत्रह जोड़ी अर्थात चौंतीस पसलियां (रिब्स)होती है जबकि पश्चिमोत्तर क्षेत्रों के अश्वों में १८ जोड़ी पसलियां पाई जाती है। यदि यह बात सही है तो यह बहुत ही महत्त्वपूर्ण है क्योंकि ऋग्वेद की एक ऋचा (१.१६२.१८) में अश्वमेध में प्रयुक्त अश्व और ३४ पसलियों (चतु:त्रिंशत् वंक्री:) का स्पष्ट उल्लेख है। जाहिर है कि यदि आर्य पश्चिमोत्तरदिशा से अश्व और अश्व-रथों पर सवार होकर भारत में आए होते तो अश्वमेध जैसे अपने महत्त्वपूर्ण यज्ञ में केवल सत्रह जोड़ी पसलियों वाले अर्थात् किंचित कम विकसित भारतीय देशज अश्वों का प्रयोग नहीं करते।

(ग) ऋग्वेद ई.पू. १५०० की नहीं कम से कम ४५०० की रचना

ऋग्वेद की रचना एक लम्बी अवधि में हुई। अत: इसके कालक्रम के निर्धारण में दो विमर्श-बिन्दु सन्निहित हैं। इनमें एक इस कालावधि की प्राचीनतम सीमा और दूसरा इसकी नवीनतम सीमा के निर्धारण से सम्बन्धित है। अभी तक किसी विद्वान ने ऋग्वैदिक काल की प्राचीनतम सीमा निर्धारित कर लेने का दावा नहीं किया है। इसके अपवाद केवल आर्य

आक्रमण/आगमन सिद्धांतों के समर्थक हैं जिनके अनुसार ऋग्वैदिक युग ई. पू. लगभग १५०० में प्रारम्भ होता है। उनकी यह मान्यता मैक्समूलर द्वारा कभी शीघ्रता में, बिना सोच-विचार के किये गये एक तदर्थ आकलन पर आधारित है। पर, विडम्बना यह है कि वे यह आसानी से नज़रअंदाज कर देते हैं कि बाद में स्वयं मैक्समूलर ने यह माना था कि ऋग्वेद के सूक्त कितने प्राचीन है, यह इस धरा पर कभी भी कोई भी निर्धारित नहीं कर पाएगा।

ऋग्वैदिक काल-निर्धारण के इस विमर्श पर भाषा विज्ञान कोई अन्तर्दृष्टि प्रदान करने में सर्वथा असफल रहा है। यह इसी तथ्य से स्पष्ट है कि एक जैसी भाषावैज्ञानिक सामग्री और शोध-पद्धति के आधार पर बटकृष्ण घोष इस नतीजे पर पहुंचते हैं कि ऋग्वेद ई.पू. १५०० के पहले का नहीं हो सकता और सत्य स्वरूप मिश्र इस निष्कर्ष पर पहुंचते हैं कि वह ई.पू. ५००० के बाद का नहीं हो सकता!

पुरातत्त्विक साक्ष्य अवश्य ही इस निष्कर्ष पर पहुंचते हैं कि ऋग्वेद को हर हालत में ई. पू. २००० से पहले ही रखना पड़ेगा। ऋग्वेद उस युग की रचना है जब सरस्वती नदी प्रचंड वेग से बह रही थी। नदी कब सूख गई, इसका पता राजस्थान के हनुमानगढ़ में स्थित कालीबंगा स्थल के उत्खनन से चलता है। कालीबंगा सरस्वती नदी के तट पर स्थित अपने समय का एक बहुत विकसित नगर था, किन्तु सरस्वती के सूख जाने से इसके निवासियों को इसे त्याग देना पड़ा था। कार्बन-१४ विधि से किये गए तिथि-निर्धारण से ज्ञात हुआ है कि नगर का परित्याग ई. पू. लगभग १९५० में किया गया। स्पष्ट है कि ऋग्वेद की रचना उसके बहुत पूर्व हुई होगी क्योंकि सरस्वती के क्रमशः सूखने में भी पर्याप्त समय लगा होगा।

ऋग्वैदिक काल-निर्धारण के सन्दर्भ में सर्वाधिक विश्वसनीय साक्ष्य खगोलविज्ञान (एस्ट्रोनॉमी) प्रस्तुत करता है। वर्षों पहले बाल गंगाधर तिलक और हरमैन जैकोबी एक दूसरे से दूर और अनजान क्रमशः मुम्बई और बान में बैठे खगोलवैज्ञानिक गणना के आधार पर एक साथ ही इस नतीजे पर पहुंचे कि ऋग्वेद ई. पू. ४५०० के पूर्व की रचना है। पर, बीसवीं शती के प्रथम दशक में, जिस समय तिलक और जैकोबी के निष्कर्ष प्रकाशित हुये थे, आर्य आक्रमण सिद्धांत का जादू विद्वानों पर इस प्रकार हावी था कि उन्होंने इन अति महत्त्वपूर्ण शोधकार्यों को नज़रअन्दाज कर दिया। इधर हाल में वैदिक खगोल विज्ञान पर सुभाष काक प्रभुति कतिपय विद्वानों ने नये सिरे से शोध प्रारम्भ किया है और वर्ष २००६ में अमेरिका के मेंफिस विश्वविद्यालय के प्रोफेसर नरहरि आचर ने प्लैनेटोरियम साफ्टवेयर की सहायता से ऋग्वैदिक खोगोल वैज्ञानिक स्थितियों का निरीक्षण कर तिलक एवं जैकोबी के निष्कर्षों की पुष्टि की है।

(घ) ऋग्वैदिक आर्य घुमन्तू पशुपालक नहीं, प्रगतिशील कृषक और सफल व्यापारी थे

औपनिवेशिक-मिशनरी इतिहासकारों ने एक मिथक यह भी रचा था कि ऋग्वैदिक आर्य घुमन्तू पशुपालक थे जो खेती करना भी नहीं जानते थे। सांस्कृतिक दृष्टि से अत्यन्त पिछड़े, यायावर और कबीलाई आर्यों की यह बहुप्रचारित छवि एक लम्बे अर्से से अब तक बनी रही है और सफेद झूठ का पर्दाफाश अभी हाल ही में हुआ है।

१९८३ में प्रकाशित आर. एस. शर्मा की पुस्तक 'मैटिरीयल कल्चर ऐण्ड सोशल

फॉरमेशन्स इन ऐंशियण्ट इण्डिया’ उस पुरानी धारणा के अभी हाल तक अपरिवर्तित बने रहने का एक उदाहरण है। इस पुस्तक में शर्मा जी ने यह प्रतिपादित किया है कि ऋग्वेद के वंशमण्डलों के रचना काल तक आर्य अधिकांशत: घुमन्तू पशुपालक थे जिन्हें कहीं बसकर कृषि करने का कोई अनुभव नहीं था। शर्मा जी के अनुसार वे ज्यादातर लूट का माल हथियाने में लगे रहते थे। लूटपाट करना ही उनका प्रधान आर्थिक उपक्रम था जो उनके बीच एक संस्थागत रूप ग्रहण कर चुका था। किन्तु, आर. एन नन्दी ने इस मत का खण्डन किया है और सप्रमाण यह स्पष्ट किया है कि ऋग्वेद के वंश मण्डलों में स्थायी निवास और कृषि कर्म के प्रचुर प्रमाण है। भगवान सिंह ने इससे भी एक कदम और आगे बढ़कर यह सिद्ध किया कि ऋग्वैदिक आर्य कुशल व्यापारी थे और समूचा ऋग्वेद व्यापार एवं वाणिज्य के प्रमाणों से भरा पड़ा है। इन विद्वानों के मत, जो एक के बाद एक प्रकाश में आये हैं, वैदिक आर्यों के विद्रूपित छवि के क्रमिक अपसारण को स्पष्टत: प्रदर्शित करते हैं। यहां यह भी उल्लेखनीय है कि ये तीनों ही विद्वान मार्क्सवादी इतिहासकार हैं और मार्क्सवाद सामान्यतया वेद-निन्दक ही होते हैं।

(ङ) आर्य सरस्वती-सिन्धु (हड़प्पा) सभ्यता के निर्माता हैं, उसके विध्वंसक नहीं

यह मिथक भी अब टूट चुका है कि आर्य हड़प्पा सभ्यता के विध्वंसक हैं। ऋग्वैदिक संस्कृति एवं हड़प्पा सभ्यता के तुलनात्मक अध्ययन से स्पष्ट होता है कि दोनों के भौगोलिक क्षितिज अभिन्न है। पूरब में सरस्वती घाटी से पश्चिम में सिन्धु नदी के बायें तट तक का भूभाग दोनों की ही सभ्यताओं का मूल क्षेत्र या कहे, पालना (क्रेडिल) था। दोनों के सम्पर्क क्षेत्र (कांटैक्ट एरियाज) भी एक ही हैं। पश्चिमोत्तर दिशा में अफगानिस्तान तक, दक्षिण-पश्चिम में गुजरात तक तथा पूरब में सदानीरा (वर्तमान गंडकी नदी) के उस पार तक दोनों सभ्यताओं का कालक्रम परस्पराछादित है। वैदिक संस्कृति हड़प्पा सभ्यता की नागर अवस्था (अर्बन स्टेज) से पूर्ववर्ती भी है और परवर्ती भी, अर्थात वह पहले प्रारम्भ होती है तथा हड़प्पा सभ्यता के पराभाव के पश्चात् भी बनी रहती है। दोनों सभ्यताओं की संरचना में भी अत्यधिक साम्य है। ऋग्वेद के अध्ययन से विदित होता है कि आर्यों ने भी नगरों का निर्माण किया था, भले ही वे अपने शत्रुओं के लिये ‘पुरन्दर’ रहे हों। ऋग्वेद के अनेक सूक्तों में व्यापारिक गतिविधियों का उल्लेख है। तत्कालीन आर्य सड़कों एवं जलमार्गों से दूर-दूर तक व्यापार करते थे। समुद्री मार्ग से किये जा रहे व्यापार के भी सन्दर्भ ऋग्वेद में उपलब्ध हैं।

हड़प्पा और वैदिक सभ्यताओं की भौगोलिक, कालक्रमिक एवं सांस्कृतिक समानताओं के आधार पर इतिहासकारों के बीच उनके अभिन्न होने की धारणा बलवती हुई है। एक तरफ हम साहित्य में आर्य वीरों को अपने शत्रुओं को पराजित करते हुए सरस्वती से सिन्धु घाटी और उसके आगे बढ़ते देखते हैं, तो दूसरी तरफ हम पुरातत्त्व में विकसित हड़प्पा के जवानों को विभिन्न जनों को पददलित करते, आगे बढ़ते तथा सिन्धु घाटी के कोट दिजी टीले और सिन्धु के उस पार नौशारों, गुम्ला, तथा राना धुंडेई टीलों की प्राचीन बस्तियों को ध्वस्त करते पाते हैं। साहित्यिक और पुरातात्त्विक परिदृश्यों का यह सादृश्य भी ऋग्वैदिक आर्यों और हड़प्पा सभ्यता के निर्माताओं के अभिन्न होने की पुष्टि करता है।

(च) 'वैदिक आर्य' एक यथार्थ, 'इण्डो-आर्यन्' एक मिथक

'इण्डो-आर्यन्' अवधारणा भी औपनिवेशिक-मिशनरी इतिहासकारों द्वारा सृजित एक मिथक है। इस मिथक के प्रभाव में अनेक इतिहासकार 'वैदिक आर्य' और 'इण्डो-आर्यन्' अभिधानों का प्रयोग ऐसे अन्तर्निर्मय ढंग से करते हैं मानों वे समानार्थक हों। वे यह भूल जाते हैं कि दोनों भिन्न अवधारणायें हैं। 'वैदिक आर्य' एक ऐतिहासिक यथार्थ है। वैदिक जनों के बीच 'आर्य' शब्द एक स्वसम्बोधन (सेल्फ डेजिग्नेशन) के रूप में प्रयुक्त रहा है। इसके विपरीत 'इण्डो-आर्यन्' एक भाषावैज्ञानिक निर्मिति (कांस्ट्रक्ट) है जो उन लोगों का बोधक माना गया है जो तथाकथित इण्डो-यूरोपियन् की एक शाखा इण्डो-इरैनियन् की उपशाखा इण्डो-आर्यन् के बोलने वाले कहे जाते हैं और चूंकि यह एक निर्मिति है, यथार्थ नहीं, अतः इसकी वैधता को सत्यापन की अपेक्षा है जो अभी तक अपूर्ण है। यद्यपि भाषा और संस्कृति परस्पर गहराई से जुड़े होते हैं तथापि 'आर्य' शब्द किसी विशिष्ट भाषाभाषी व्यक्ति या समूह का बोधक नहीं है। वैदिक दृष्टि में एक द्रविड़ भाषाभाषी भी आर्य हैं यदि उसमें वह गुण है जिसे आर्यत्व कहा जाता है।

(छ) 'आर्यत्व' की अवधारणा

औपनिवेशिक-मिशनरी इतिहासकारों द्वारा 'आर्य' अभिधान के विद्रूपीकरण के निराकरण हेतु 'आर्यत्व' की अवधारणा को स्पष्ट करना आवश्यक है। आर्यत्व का किसी प्रजाति या नस्ल अथवा किसी भाषा-विशेष से कोई लेना-देना नहीं। वह एक विशुद्ध गुण है जो सभ्यता और सुसंस्कार से सम्बन्धित है। वैदिक दृष्टि में सभ्यता और सुसंस्कार जैसे गुण उस विशिष्ट जीवन-दृष्टि (वर्ल्ड व्यू) को अपनाने से उत्पन्न होते हैं जिसमें 'ऋत', और 'धर्म' जैसी अवधारणायें मान्य है। वस्तुतः 'ऋत' ही मूल अवधारणा है। 'सत्य' और 'धर्म' उसी के विभिन्न रूप है।

'ऋत' अवधारणा को ठीक से समझा पाना कठिन है यद्यपि उसे 'विश्वब्रह्माण्डीय व्यवस्था' और 'सनातन व्यवस्था' जैसे प्रत्ययों में बांधने का प्रयास हुआ है। ऋत एक नियम या विधान है जो काल की दृष्टि से सनातन, विस्तार की दृष्टि से निखिल विश्वब्रह्माण्डीय तथा स्वभाव की दृष्टि से एक ही साथ उचित, सत्य, दिव्य, पवित्र, धार्मिक, पूर्ण, तेजस्वी, यशस्कर और वह सब है जो श्रेष्ठ है। ऋत, सत्य और धर्म एक ही है। ऋग्वेद की एक ऋचा (१०.१९०.१) की व्याख्या करते हुये सायण ने कहा है कि ऋत सत्य का ही दूसरा नाम है। (ऋतमिति सत्यनाम)। ऋत यथार्थ की मानसिक संकल्पना है और सत्य यथार्थ की भाषिक अभिव्यक्ति (ऋतं मानसं यथार्थ संकल्पनं, सत्यं वाचिक यथार्थभाषणम्)। तात्पर्य यह है कि यथार्थ (एसेंस) एक ही है। मन के स्तर पर वह ऋत कहलाता है और वचन के स्तर पर सत्य। वही जब कर्म के स्तर पर व्यवहार में आता है तो धर्म कहा जाता है। भारतीय दृष्टि में धर्म सनातन एवं विश्वब्रह्माण्डीय इसीलिए माना जाता है क्योंकि वह ऋत का ही एक रूप है। ऋताधारित जीवन-दृष्टि ही आर्यत्व को परिभाषित करती है। जिस व्यक्ति में वह जीवन-दृष्टि है वह आर्य है, चाहे वह जिस जाति का हो या जो भी भाषा बोलता हो।

भारतीय इतिहास की मार्क्सवादी व्याख्या से पैदा हुई विद्रूपताओं का निराकरण

भारतीय इतिहास की मार्क्सवादी व्याख्या से जो मतिभ्रम उत्पन्न हुये हैं वे इतने अधिक

व्यापक और गहरे हैं कि उनका सम्यक् आकलन एक अकेले लेख में सम्भव नहीं। सच तो यह है कि भारतीय इतिहास की व्याख्या मार्क्सवादी दृष्टि से की ही नहीं जा सकती। इसके कई कारण है:

पहला प्रमुख और आधारभूत कारण यह है कि मार्क्सवाद इस तथ्य पर ध्यान नहीं देता कि ऐतिहासिक ज्ञान राष्ट्रीय दृष्टिकोणों और राष्ट्रीय आकांक्षाओं से अनिवार्यत: प्रभावित होता है। वह इस तथ्य की भी अनदेखी करता है कि अलग-अलग समाजों या संस्कृतियों की मूल्य व्यवस्थायें (वैल्यू सिस्टम्स) अलग-अलग होती हैं। 'सभी धान पांच पसेरी' या 'टका सेर भांजी, टका सेर खाझा' जैसा साधारणीकरण इतिहास लेखन के क्षेत्र में सम्भव नहीं। सभी देशों या समाजों का इतिहास परिकल्पित आदिम साम्यवादी, दासप्रथात्मक, सामन्तवादी और पूंजीवादी अवस्थाओं से ही गुजरा है या गुजरेगा, इस पूर्व अवधारणा की वैधता सन्देहास्पद है।

दूसरा कारण यह है कि मार्क्सवाद उस पाश्चात्य मानसिकता की कोख से उत्पन्न हुआ है जिसमें प्राचीन 'अतीत' के प्रति कोई श्रद्धा नहीं होती। पाश्चात्य दृष्टि में पुनर्जागरण के बाद का 'अतीत' ही प्रासंगिक है। पुनर्जागरण के पूर्व का अतीत उसके लिए पराया जैसा है जिसके प्रति जिज्ञासा तो हो सकती है पर कोई लगाव नहीं। 'अतीत' के प्रति भारतीय दृष्टि इसके सर्वथा भिन्न है। जो'अतीत' जितना ही प्राचीनतर है वह उतना ही अधिक श्रद्धेय है। स्वाभाविक है कि वैदिक काल जैसे अति प्राचीन 'अतीत' को एक मार्क्सवादी उस दृष्टि से नहीं देख पाता है जिससे कोई सामान्य भारतीय देखता है।

तीसरा कारण यह है कि मार्क्सवाद मानव जीवन में धर्म के महत्त्व को समझने में सर्वथा विफल रहा है। धर्म और संस्थागत धर्म में अन्तर है, वह भी उसकी समझ के बाहर है। धर्म की सामाजिक भूमिका के प्रति उसने अन्याय किया है। भारत जैसे धर्म-प्रधान देश का इतिहास भला मार्क्सवादी दृष्टि से कैसे समझा सकता है?

चौथा कारण यह है कि मार्क्सवाद अर्थ को जरूरत से ज्यादा महत्त्व देता है। यह सही है कि सामाजिक, आर्थिक, धार्मिक आदि संस्कृति के विभिन्न अंग एक दूसरे से निरन्तर क्रिया-प्रतिक्रिया करते रहते हैं। संस्कृति के किसी भी अंग में परिवर्तन हो, सभी अंग प्रभावित होते हैं। यह भी मान्य है कि मानव जीवन में, विशेषत: उसके दैहिक एवं सामाजिक अपेक्षाओं के क्षेत्र में अर्थ की महत्ता सर्वोपरि है। पर, अर्थ को समूची सांस्कृतिक संरचना का आधार मानना सही नहीं प्रतीत होता। आत्मिक क्षेत्र के ऐसे कई आयाम हैं जिनमें अर्थ नहीं, उसका अपरिग्रह अधिक प्रभावी भूमिका निभाता है।

मार्क्सवादी दृष्टि भारतीय इतिहास लेखन में कैसी विकट परिस्थितियां उत्पन्न करती है, इसके लिए एक ही उदाहरण देना पर्याप्त होगा। १९६३ में यूनेस्को जैसी प्रतिष्ठित संस्था के तत्वावधान में प्रकाशित 'हिस्ट्री आफ मैनकाइण्ड' के प्रथम खण्ड में वैदिक आर्यों को 'अर्द्ध-बर्बर'(सेमी-बारबेरस) कहा गया। 'आर्य' शब्द का अर्थ ही सभ्य है, पर वे सभ्य नहीं माने गये क्योंकि सभ्यता की प्रचलित परिभाषा के अनुसार वे सभ्य नहीं माने जा सकते थे। सभ्यता की यह प्रचलित परिभाषा भौतिकवादी ऐतिहासिक दृष्टि की देन है। इसके अनुसार केवल नागर और साक्षर समाजों को ही सभ्य कहा जाता है। आर्यों को ग्रामीण एवं अपढ़ मान लिया गया और उन्हें

सभ्यता की परिधि से बाहर ढकेल दिया गया। ज्ञातव्य है कि इस परिभाषा को सबसे पहले फ्रांसीसी विद्वान लुई एच. मोर्गा ने अपनी पुस्तक 'एंशियण्ट सोसायटी' में प्रस्तुत किया था। बाद में फ्रेडरिक् इंजिल्स ने अपने प्रसिद्ध लेख 'द ओरिजिन आफ द फेमिली, प्राइवेट प्रापर्टी एण्ड द स्टेट' में इसको अपने विश्लेषण का आधार बनाया। वी. गार्डन चाईल्ड ने इस परिभाषा को इंजिल्स से लिया और इतिहास में प्रचलित कर दिया। सभ्यता की इस परिभाषा के प्रभाव से कई भारतीय इतिहासकार, भले ही वे स्वयं मार्क्सवादी न हों, वैदिक संस्कृति को वैदिक सभ्यता कहने में संकोच करते रहते हैं।

इतिहास के क्षेत्र में अनुशासनात्मक परिष्कार की अपेक्षा

सूचना-क्रान्ति के इस दौर में अध्ययन का हर विषय अन्तरानुशासनिक हो चुका है। इतिहास लेखन में यह प्रवृत्ति अभी अविकसित है। अनेक अवधारणायें सुस्पष्ट ढंग से परिभाषित नही हैं, शोध-पद्धति का उन्नयन नहीं हो पाया है तथा निष्कर्षों के निर्वचन में प्राय: तार्किकता का अभाव दृष्टिगत होता है। इतिहास को बौद्धिक जगत में वह प्रतिष्ठा प्राप्त नहीं है जो अन्य अनुशासनों को प्राप्त है। यह एक पिछड़ा विषय माना जाता है। इतिहास का यह अनुशासनात्मक दारिद्र्य भारतीय इतिहास में विशेष रूप से परिलक्षित है। इसे दूर करने की चुनौती भी हमारे सामने है।

'संस्कृति' और 'सभ्यता' अवधारणाओं को ही लें जो इतिहास में सर्वाधिक प्रयुक्त अवधारणायें हैं। आपने देखा कि सभ्यता की प्रचलित परिभाषा से, जो भौतिकवादी दृष्टि की देन है, कितना विभ्रम उत्पन्न हो रहा है। संस्कृति की भी कोई एक सुनिश्चित परिभाषा नहीं है। मुण्डे-मुण्डे-मतिर्भिन्नता की स्थिति है। संस्कृति की वैज्ञानिक या कहें, सर्वमान्य परिभाषा उपस्थित करने के लिए उस सत्त्व (एण्टिटी) का निर्धारण आवश्यक है जो इसकी न्यूनतम आंगिक इकाई बन सके। शारीरिक और मानसिक क्रियाओं (एक्शन्स) को हम वह न्यूनतम इकाई मान सकते है। क्रियाओं के संपुंजन या समुच्चयन (क्लस्टराइजेशन) से गतिविधियों (एक्टिविटीज) का निर्माण होता है। इसी प्रकार गतिविधियों के समुच्चयन से व्यवहारों का सृजन होता है और शारीरिक तथा मानसिक व्यवहारों का समुच्चय ही मेरी समझ में संस्कृति है। यहां संस्कृति की इस परिभाषा के अधिक विस्तार में जाने का अवकाश नहीं है, और न ही इस परिभाषा के प्रति मेरा कोई आग्रह है। इस उदाहरण को प्रस्तुत करने का मेरा अभिप्राय मात्र यह इंगित करना है कि ऐतिहासिक अवधारणाओं की सुनिश्चित परिभाषाओं के निर्माण के लिये हमें किस प्रकार के प्रयास करने होंगे। इतिहास के क्षेत्र में संप्रति आगमनात्मक (इण्डक्टिव) शोध-पद्धति प्रयोग में है। इस पद्धति में हम पहले सामग्री एकत्र करते है। तत्पश्चात् उस सामग्री का क्रमश: वर्गीकरण, आगमनात्मक सामान्यीकरण और सिद्धान्तों का निर्माण करते हैं। यह पद्धति दोषपूर्ण है क्योंकि किसी स्पष्ट दिशा-निर्देश के अभाव में सामग्री संकलन का कार्य हमारे पूर्वाग्रहों से प्रभावित हो जाता है और हम जाने-अनजाने वही सामग्री एकत्र करते हैं जो हमारे पूर्वाग्रहों के अनुकूल होती है। अत: अन्य अनुशासनों की तरह इतिहास में भी प्राक्कल्पनात्मक-निगमनात्मक (हाइपोथेटिको-डिडक्टिव) शोध-पद्धति के प्रचलित किये जाने की आवश्यकता है। इसमें हम पहले विभिन्न प्राक्कल्पनाओं पर विचार करते हैं और प्रत्येक प्राक्कल्पना के उपनिर्मयों (कोरोलरीज) की सूची तैयार करते हैं।

इसके पश्चात् हम सामग्री का निरीक्षण और संकलन करते हैं और यह निश्चित करते हैं कि कौन सी प्राक्कल्पना या प्राक्कल्पनायें सामग्री के सर्वाधिक अनुकूल हैं। प्राक्कल्पनाओं के पुनर्परीक्षण के उपरान्त ही सिद्धान्तों का निर्माण किया जाता है। बहुलित (मल्टीपुल) वैकल्पिक प्राक्कल्पनाओं को दृष्टि में रखते हुए शोध करने से हम मानसिक पर्वाग्रहों से अनजाने प्रभावित नहीं होते।

इसी प्रकार के कई और कार्य है जैसे परीक्षणीय सचेतन प्रतिमानों (माडल्स) का निर्माण आदि जो इतिहास के अनुशासनात्मक परिष्कार में सहायक सिद्ध हो सकते हैं।

इतिहास को अधिकाधिक वस्तुनिष्ठ बनाने की आवश्यकता

हम देखते है कि इतिहास और विज्ञान दोनों ही क्षेत्रों में सिद्धान्तों का प्रतिपादन किया जाता है और नये तथ्यों के प्रकाश में आने पर दोनों ही क्षेत्रों में सिद्धान्तों का संशोधन और परिवर्तन होता है। पर इतिहास के क्षेत्र में एक ही संदर्भ में उपस्थित विविध और परस्पर विरोधी सिद्धान्तों का जो आराजक परिदृश्य दिखाई देता है वह विज्ञान के क्षेत्र में परिलक्षित नहीं होता। ऐसा क्यों? कोई कह सकता है कि ऐसा इसलिए है क्योंकि इतिहास मानविकी का विषय है, विज्ञान का नहीं। मेरी दृष्टि में यह उत्तर सन्तोषजनक नहीं है। कला, मानविकी और विज्ञान का विभाजन व्यावहारिक है, तात्त्विक नहीं। अन्तर विभिन्न विषयों में पाई जाने वाली वैज्ञानिकता के स्तर का है। सामाजिक विज्ञान (जैसे अर्थशास्त्र या राजनीति विज्ञान) उतने वैज्ञानिक नहीं होते जितने प्राकृतिक विज्ञान (जैसे प्राणी विज्ञान या वनस्पति शास्त्र)। उसी प्रकार प्राकृतिक विज्ञान भी उतने उच्च स्तर तक वैज्ञानिक नहीं होते जितने उच्च स्तर तक भौतिक विज्ञान (जैसे भौतिक या रसायनशास्त्र)। मानवीय क्रिया-कलापों का अध्ययन जिस प्रकार अर्थशास्त्र, राजनीति विज्ञान अथवा मानवशास्त्र का लक्ष्य या विषय-वस्तु है, उसी प्रकार इतिहास का भी है। यह कहना कि इतिहास में सामान्यीकरण (जेनरलाजेशन) नहीं किया जाता, गलत है।

प्रश्न मानविकी और विज्ञान के भेद का नहीं है। प्रश्न यह है कि क्या इतिहास में वस्तुनिष्ठता लाने के लिए इसे और अधिक वैज्ञानिक बनाया जा सकता है? ध्यान में रखें कि यहां हम इस प्रश्न पर विचार नहीं कर रहे हैं कि इतिहास को एक वैज्ञानिक विषय बनाया जाना चाहिये या नहीं। यह एक दूसरे प्रकर का प्रश्न है। यहां केवल इस बिन्दु पर विचार कर रहे हैं कि इतिहास एक वैज्ञानिक विषय बन सकता है अथवा नहीं। दूसरे शब्दों में, क्या इतिहास की विषय-वस्तु और सामग्री इस प्रकार की है कि वह विज्ञान बन सके? प्रसिद्ध इतिहासकार अर्नोल्ड ट्वायन्बी का मत है कि इतिहास के क्षेत्र में वैज्ञानिक पद्धति नहीं अपनाई जा सकती। कारण, इतिहास की विषय-सामग्री अत्यन्त सीमित है। हम केवल डेढ़ से दो दर्जन सभ्यताओं से परिचित है। अत: इतिहासकार मजबूर है कि वह तथ्यों को विशिष्ट मानकर चले और उनका वर्णन एवं विश्लेषण मात्र करे। उसके पास सामग्री इतनी यथेष्ट नहीं है कि वह वैज्ञानिकों की तरह सामान्यीकृत नियमों का निधारण कर सके। ट्वायन्बी के अनुसार साहित्य के क्षेत्र में भी वैज्ञानिक पद्धति नहीं अपनायी जा सकती। पर, इसका कारण वहां सामग्री का सीमित होना नहीं बल्कि असीमित होना है। साहित्यकार मानवीय भावनाओं एवं संवेदनाओं को अभिव्यक्ति देता है जो इतनी संख्यातीत है कि नियमों का निर्धारण असम्भव हो जाता है। इतिहास और साहित्य के विपरीत मानवशास्त्र में वैज्ञानिक पद्धति अपनाई जा सकती है।

मानवशास्त्री लगभग ६५० आदिम समाजों से परिचित हैं और वह तथ्यों के तुलनात्मक अध्ययन के आधार पर सामान्यीकृत नियमों का निर्धारण कर सकता है। इस प्रकार ट्वायन्बी के अनुसार किसी विषय में वैज्ञानिक पद्धति अपनाये जाने या न अपनाये जाने का प्रश्न उस विषय की सामग्री के परिमाण पर निर्भर है। वैज्ञानिक पद्धति का प्रयोग केवल उन्हीं विषयों में किया जा सकता है जहां सामग्री न तो अत्यल्प हो और न असीमित।

ट्वायन्बी ने ये बातें आज से ६० वर्ष पूर्व लिखी थीं। तब से आज तक की अवधि में इतिहास की विषय-सामग्री में अत्यधिक वृद्धि हो चुकी है। आज इतिहासकार लगभग डेढ़ हजार संस्कृतियों से परिचित है। इतिहास के क्षेत्र में वैज्ञानिक पद्धति अपनाये जाने के मार्ग में अब सामग्री का अभाव कोई बाधा नहीं उपस्थित कर सकता है। वस्तुत: किसी विषय में वैज्ञानिक पद्धति अपनाये या न अपनाये जाने का प्रश्न उस विषय की सामग्री के परिणाम पर नहीं अपितु उस विषय में कार्यरत विद्वानों की मानसिकता से जुड़ा होता है। मूर्धन्य भाषा वैज्ञानिक एल्मस्लेव के अनुसार किसी विषय सामग्री की न्यूनता या अधिकता उस पर आधारित नियमों की सम्भाव्यता के स्तर को तो प्रभावित कर सकती है पर वैज्ञानिक पद्धति के चुनाव से उस का कोई सम्बन्ध नहीं होता।

कतिपय विद्वानों का विचार है कि ऐतिहासिक तथ्य और वैज्ञानिक तथ्यों में गुणात्मक अन्तर है। ऐतिहासिक तथ्य 'विशिष्ट' होते हैं और वैज्ञानिक तथ्य 'सामान्य'। ये विद्वान इस मूलभूत बात को नज़रअन्दाज कर देते हैं कि विशिष्ट और सामान्य का विभेद चिन्तन-प्रक्रिया के दो भिन्न धरातलों से सम्बन्धित होता है। निरीक्षण (आबजर्वेशन) के स्तर पर प्रत्येक तथ्य विशिष्ट होता है किन्तु नियम-निर्माण करते समय अमूर्तन (ऐब्सट्रैक्शन) के स्तर पर सभी तथ्य सामान्य होते हैं।

इतिहास को अधिकाधिक वस्तुनिष्ठ बनाने के लिए इस विषय में प्रयुक्त अवधारणाओं को वैज्ञानिक ढंग से परिभाषित करने और शोध-पद्धति के उन्नयन के साथ ही इसके अध्ययन में वैज्ञानिक दृष्टि अपनाने की आवश्यकता है। इसी वैज्ञानिक दृष्टि को भारतीय परम्परा में 'द्रष्टभाव' कहा गया है। जिस देश और काल के इतिहास का हम अध्ययन कर रहे हैं, उस देश काल की अपनी आंतरिक विचारधारा के अतिरिक्त किसी बाह्य विचारधारा का हस्तक्षेप ऐतिहासिक अध्ययनों में वर्जित घोषित किया जाना चाहिए।

भारतीय मानस के ज्ञान पर आधारित भारतीय इतिहास लेखन

इतिहास घटनाओं और प्रक्रियाओं का विवरण और विश्लेषण मात्र प्रस्तुत नहीं करता, वह उनका मूल्यांकन भी करता है। यह समझने में अधिक श्रम की आवश्यकता नहीं कि किसी भी व्यक्ति के किसी भी कार्य का वस्तुनिष्ठ मूल्यांकन बिना उस मानस को समझे नहीं किया जा सकता जिससे प्रेरित हो उस व्यक्ति ने वह कार्य किया। स्पष्ट है कि भारतीय इतिहास को समझने के लिए भारतीय मानस का ज्ञान आवश्यक है। पर यह भारतीय मानस है क्या? इसे कैसे परिभाषित किया जा सकता है?

हम सब ने बार-बार पढ़ा और सुना है कि भारतीय संस्कृति की सबसे बड़ी विशेषता उसकी आध्यात्मिकता है। क्या अर्थ है इस कथन का? क्या एक सामान्य भारतीय एक औसत अमेरिकी या चीनी नागरिक से अधिक आध्यात्मिक होता है? नहीं, ऐसा समझना सर्वथा गलत

होगा। हम भारतीय उतने ही अच्छे या बुरे हैं जितने अन्य देशों के नागरिक। हम किसी से कम अर्थलोलुप नहीं हैं और न ही भौतिक सुख-सुविधाओं की हमारी लालसा किसी से कमतर है।

फिर भी, एक औसत भारतीय के विषय में एक विलक्षण बात यह है कि वह स्वयं जैसा भी हो, कितना भी भ्रष्ट और पापी क्यों न हो, एक संत या महात्मा के प्रति उसके मन में आत्मस्फूर्त अगाध श्रद्धा उपजती है। लेकिन बड़े से बड़े शक्तिशाली किसी राजनेता अरबों-खरबों के मालिक किसी धनाढ्य तथा ऊंचे से ऊंचे किसी उद्योगपति के लिए उसके अन्त:करण में वह असीम, अनायास, अकृत्रिम और आत्मस्फूर्त आदर-भाव नहीं होता जो उस संत या महात्मा को देखकर होता है जिसके बारे में वह समझता है कि इस व्यक्ति ने आत्म-साक्षात्कार या परमात्मानुभूति के लिए सांसारिक सुखों का स्वेच्छया परित्याग कर दिया है। ऐसा क्यों होता है? जाहिर है कि संत या महात्मा ही उसका आदर्श है, भले ही उसका अपना वास्तविक सामाजिक जीवन उस आदर्श से कितना भी भिन्न क्यों न हो। यही और इसी प्रकार के अन्य आदर्श, जो हमारे अन्त:करण या चित्त में रचे-बसे हैं, हमारे सांस्कृतिक मूल्य हैं। इन मूल्यों का समुच्चय या कहें, मूल्य विधान ही भारतीय संस्कृति को परिभाषित करता है। इनकी अवचेतन अनुभूति ही भारतीय मानस है।

समूचे राष्ट्र के स्तर पर इस मानस का निर्माण कैसे हुआ? भारत के विभिन्न अंचलों में आदिम अवस्था में परस्पर दूरियां बनाए, एक-दूसरे से सशंकित तथा असुरक्षित जीवन बिता रहे अनेकानेक जनों के बीच सामूहिकता, सहयोग और सद्भाव की भावना कैसे पनपी? व्यक्ति-मानस का जन-मानस और जन-मानस का राष्ट्रीय मानस में रूपान्तरण कैसे हुआ? इन प्रश्नों पर देश के सुधी इतिहासकारों, समाजशास्त्रियों और मनोवैज्ञानिकों को विचार करना चाहिए। इन प्रश्नों पर सम्यक् विचार इसलिए भी महत्त्वपूर्ण है क्योंकि यह राष्ट्रीय मानस ही एक राष्ट्र के रूप में हमारी अस्मिता को परिभाषित करता है।

अभी तक बहुत कम चिंतकों ने इन प्रश्नों पर विचार किया है। जिन विचारकों की दृष्टि इन पर गई है उनमें पण्डित दीनदयाल जी उपाध्याय अग्रगण्य हैं। एकात्म मानवदर्शन का प्रतिपादन करते समय उन्होंने उस प्राचीन एवं परम्परागत भारतीय 'चिति' अवधारणा को स्पष्ट करने का प्रयास किया है जो भारतीय राष्ट्रीय मानस का उत्स है। उन्होंने लिखा है कि ''चिति को लेकर तो प्रत्येक समाज पैदा होता है और उस समाज की संस्कृति की दिशा 'चिति' निर्धारित करती है'' *(एकात्म दर्शन, दीनदयाल शोध संस्थान, पृष्ठ १६१)*। अन्यत्र वे लिखते हैं कि '' इसकी (अर्थात् चिति की) झलक व्यक्ति के सब प्रकार के कार्यों में दिखाई पड़ती है। उसके समस्त व्यापार नि:शेष चेष्टाएं इसी चिति के प्रकाश से चैतन्य रहते हैं। जब तक चिति जाग्रत और निरामय रहती है तब तक राष्ट्र का अभ्युदय होता है। इसी चेतना के आधार पर राष्ट्र संगठित होता है'' *(राष्ट्र जीवन की दिशा, अध्याय ५, पृष्ठ ८१)*।

दीनदयाल जी द्वारा प्रस्तुत इस 'चिति' की अवधारणा पर कई विद्वानों ने विचार किया है। कुछ ही वर्ष पूर्व 'एकात्म मानवदर्शन एवं चिति अवधारणा' विषय पर तृतीय दीनदयाल स्मृति व्याख्यान प्रस्तुत करते हुए श्री कुप्पहल्ली सीतारमैया सुदर्शन जी ने इस अवधारणा का अत्यन्त विस्तार से विवेचन किया है। उनके अनुसार किसी व्यक्ति की तरह एक राष्ट्र का भी अपना शरीर

और मन होता है, अपनी बुद्धि और आत्मा होती है। सम्पूर्ण देश, उसकी भूमि, नदी-नाले , पर्वत तथा सारे संसाधन राष्ट्र के शरीर का निर्माण करते हैं। राष्ट्र का संचालन जिन व्यवस्थाओं से चलता है, जिसको हम संस्कृति कहते हैं, वह संस्कृति ही राष्ट्र का मन है। जिस उद्देश्य से राष्ट्र का अस्तित्व है, वह उद्देश्य ही राष्ट्र की बुद्धि है तथा इस उद्देश्य की चेतना, जिसे चिति कहा गया है, राष्ट्र की आत्मा है।

इस व्याख्यान के अवसर पर उपस्थित कई अन्य विद्वानों ने भी चिति की अवधारणा पर प्रकाश डाला। महेश चन्द्र शर्मा जी ने कहा कि '' सत्–चित्–आनन्द की विचारत्रयी में भारतीय मनोविज्ञान एवं समाजशास्त्र एकात्म हो जाते हैं। यह अस्तित्व चेतना एवं आनन्द से युक्त है। अस्तित्व एवं आनन्द को जोड़ने वाली कड़ी है चेतना तथा चेतना का कोष है चित्त। चित्त की नैसर्गिकता को व्यक्त करने वाली अवधारणा है चिति।'' लक्ष्मीमल्ल सिंघवी जी ने चिन्मय, चिदम्बर, चिदाकाश, चिदात्म, सच्चिदानन्द जैसे शब्दों की ओर ध्यान आकर्षित करते हुए बताया है कि ''ये शब्द हमारी परम्परा के, हमारे वैचारिक धरातल के अंग हैं। किन्तु इन सब का सम्बन्ध एक तो है चिन्तन शक्ति से, दूसरा है मन की वृत्ति या मनोवृत्ति अर्थात मानसिकता से। फिर इन का वास्तविक सम्बन्ध है कर्त्तव्य से, संकल्प से, बुद्धि से, विवेक से, प्रज्ञा से और इसीलिए इसको आत्म दीप चैतन्य की संज्ञा देना उचित होगा। चिति का अर्थ है आत्मदीप चैतन्य।'' इस चिति या आत्मदीप चैतन्य को, जिसने युगों-युगों से भारतीय मानस को परिष्कृत और परिमार्जित किया है, गहराई से समझने की आवश्यकता है। इस पर शोध करने के लिए भारतीय साहित्य में विपुल सामग्री उपलब्ध है। ऋग्वेद में इसका बारम्बार उल्लेख हुआ है। भारतीय मानस के विभिन्न आयामों को समझने की कुंजी यही चिति की अवधारणा है। इस 'चिति' अवधारणा के आलोक में ही भारतीय इतिहास एवं संस्कृति का सही लेखन और मूल्यांकन संभव है। व्याख्या की अन्य कोई भी दृष्टि यथार्थ से परे होगी।

शिवाला नगर, मोहद्दीपुर,
गोरखपुर–२७३००८,

राष्ट्र का स्वरूप : चिति

पं. दीनदयाल उपाध्याय

राष्ट्र का वास्तविक स्वरूप समझने के लिए उस मूल तत्त्व की ठीक-ठीक पहचान करनी होगी, जिसके आविर्भाव से राष्ट्र का उदय होता है, जिसके कारण राष्ट्र की धारणा होती है और जिसके क्षीण पड़ने से राष्ट्र विनाश की ओर अग्रसर हो जाता है। यह मूल तत्त्व है — राष्ट्र की प्रकृति जिसे शास्त्रीय ढंग से 'चिति' नाम से सम्बोधित किया गया है। 'चिति' ही वह मापदण्ड है जिससे हर वस्तु को मान्य अथवा अमान्य किया जाता है। उदाहरण के लिए हम रामायण का प्रसंग देखें। विभीषण ने अपने भाई रावण का साथ छोड़कर भगवान रामचन्द्र जी का पक्ष ग्रहण किया। इसके लिए विभीषण की सराहना की गई है। वैसे रावण वेदों का ज्ञाता था और उच्च कुल का ब्राह्मण था। किन्तु रावण की जय-जयकार नहीं होती। प्रभु रामचन्द्र जी हमारे इष्ट और आदर्श देवता हैं। उसी प्रकार महाभारत में हम श्रीकृष्ण को अवतार के नाते पूजते हैं। जिन्होंने अपने सगे मामा कंस को पछाड़ा, कितने ही कौरव सेनापतियों के विनाश के लिए प्रयत्न किया। इस सम्बन्ध में प्रत्येक भारतीय पाण्डवों की विजय को धर्म का, और कौरवों को अनीति का पक्ष मानता है। इसी प्रकार अन्य कई बातों के सम्बन्ध में हम भारत के राष्ट्रीय मानस की अद्‌भुत एकता का दृश्य देखते हैं। आत्मा-परमात्मा का सम्बन्ध, मानव जीवन का लक्ष्य, उस लक्ष्य की प्राप्ति के लिए श्रेष्ठ चारित्रिक गुण सम्पदा का चयन और ऐसे आचरणों को चरितार्थ करने वाले महापुरुषों के प्रति समान श्रद्धा-आदर का भाव आदि कितनी ही ऐसी बातें दिखाई पड़ती हैं जिनके सम्बन्ध में समान मूल्यांकन विभिन्न भाषाओं के उपलब्ध ग्रन्थों के विपुल साहित्य में एक जैसी चिन्तनधारा की विविध झांकियाँ मिलती हैं। निःसन्देह इस एकरूपता को देखकर हम एक क्षण अवाक् होकर सोचने लगते हैं कि इस एक जैसे नीर-क्षीर विवेक का आधार क्या है? यह आधार कब, कैसे निर्माण हुआ? राष्ट्र के नाते हमने किस समय ये मापदण्ड निर्धारित किये? और शताब्दियों लम्बे इस कालखंड में भरे अनगिनत परिवर्ततनों के बावजूद वह कौन-सी निर्णायक वस्तु है जो प्रत्येक बाहरी हलचल को अपनी आंतरिक इच्छाशक्ति की अनुगामी बनाकर रखने में समर्थ होती है? राष्ट्र की यह चिर-जीवन-शक्ति, जिसे 'चिति' कहा गया है, क्या है ?

इसे समझने के लिए हमें उन सभी भूलों से सर्वप्रथम बचना होगा जो राष्ट्र के नाम पर आजकल प्रचलित हैं। सामान्यतः राज्य को ही राष्ट्र समझकर लोग चलते हैं, वे गलती करते हैं। 'राज्य' राष्ट्र की आवश्यकताओं की पूर्ति करने वाला एक अंग है। राज्य अनेक अवसरों पर राष्ट्र

का प्रतिनिधित्व भी करता है और इसी कारण 'राज्य' को ऐसा महत्वपूर्ण स्थान भी प्राप्त है कि उसकी उपेक्षा कर नहीं चला जा सकता, फिर भी इन कारणों से हम 'राज्य' को ही राष्ट्र समझ बैठने की भूल नहीं कर सकते, क्योंकि राष्ट्र एक जीवमान इकाई है, जो स्वयं प्रकट होता है और जो अपनी आवश्यकता की पूर्ति के लिए राज्य सहित अनेक छोटी-बड़ी इकाईयों का निर्माण करता है। ये विभिन्न इकाईयाँ राष्ट्र के लिए पोषक बनकर कार्य करें और इनमें कभी किसी प्रकार का टकराव निर्माण न हो, इसके लिए आवश्य होता है कि राष्ट्र को जाग्रत रखा जाए। यजुर्वेद में ***'वयं राष्ट्रे जागृयाम पुरोहिताः'*** मंत्र द्वारा यही मनीषा व्यक्त की गई है कि हम जागते रहेंगे यानि राष्ट्र को जाग्रत रखेंगे।

इसी प्रकार हमें यह बात भी भली-भांति समझ लेनी होगी कि 'देश' और 'राष्ट्र' भी अलग-अलग हैं। यद्यपि 'राज्य' से 'देश' अधिक विशाल और स्थायी सत्ता है और इसी कारण बहुधा देश और राष्ट्र समानार्थी शब्दों के रूप में ही प्रयोग में आते हैं। 'भारत-देश हमारा प्यारा' गीत जब हम गुनगुनाते हैं तो वास्तव में हम राष्ट्र का ही ध्यान करते हैं। इस प्रकार 'देश' और 'राष्ट्र' शब्द एक जैसे ही बोले जाते हैं। फिर भी राष्ट्र की जिस चिरन्तन शक्ति का सूक्ष्म अध्ययन हमें करना है, उसके लिए आवश्यक है कि हम देश और राष्ट्र के अन्तर को भी ध्यान में रखें। जिस प्रकार 'राष्ट्र' की 'राज्य' से भिन्न सत्ता है उसी प्रकार 'राष्ट्र' और 'देश' भी एक नहीं है। भूमि और जन को मिलाकर देश बनता है। एक निश्चित भूमिखण्ड और उसमें निवास करने वाला मानव समुदाय मिलकर देश कहा जाता है। यहाँ यह ध्यान देने योग्य बात है कि भूमिखण्ड और जनसमुदाय दोनों ऐसी बातें हैं जिन्हें हम भली प्रकार देख, सुन, समझ सकते हैं। यानि देश दृश्यमान सत्ता है। देश दिखाई पड़ता है। इसलिए जब हम राष्ट्र का वर्णन करने लगते हैं तो हमें इसी दृश्यमान देश का वर्णन करना पड़ता है। यही कारण है कि जिससे देश और राष्ट्र समानार्थी बनकर उपस्थित होते हैं। जिस प्रकार 'राज्य' राष्ट्र का प्रतिनिधि बनकर हमें दिखाई पड़ता है, उसी प्रकार देश भी राष्ट्र की अभिव्यक्ति का ठोस आधार बनकर हमारे सामने उपस्थित होता है। यहाँ तक कि बिना देश के हम किसी राष्ट्र की कल्पना भी नहीं कर सकते। बिना भूमिखण्ड और बिना किसी मानव समुदाय के राष्ट्र भला कैसे कहा जा सकता है। फिर भी यह सूक्ष्म रहस्य हमें स्वीकार करना ही पड़ेगा कि जिस प्रकार देश एक दृश्यमान सत्ता है, उसी प्रकार 'राष्ट्र' एक अदृश्यमान सत्ता है। देश दिखाई पड़ता है, राष्ट्र दिखाई नहीं पड़ता। ठीक वैसे ही जैसे शरीर दिखाई पड़ता है, आत्मा दिखाई नहीं पड़ती और यह भी कि बिना शरीर के आत्मा का प्रकटीकरण नहीं हो सकता, साथ ही बिना आत्मा के शरीर मुर्दा ही गिना जायेगा। देश और राष्ट्र अभिन्न होते हुए भी अलग-अलग सत्ताएँ हैं। राष्ट्र एक अदृश्य सत्ता होने के साथ-साथ अधिक गूढ़ और चिरन्तन भी है। इस सम्बन्ध में हम अपने भारत का ही ध्यान करें। हम भारत के प्रति अनन्य भक्तिभाव लेकर कार्य करते हैं। देश के नाते 'भारत' पृथ्वी पर एक भूभाग का ही नाम है। तीन ओर समुद्र और उत्तर में हिमालय की

शाखा-प्रशाखा पर्वत श्रेणियों से घिरा हुआ भू-भाग ही हमारा भारत देश है। इस अर्थ में भारत देश पृथ्वी पर जमीन के एक टुकड़े का नाम है। किन्तु क्या जमीन का टुकड़ा ही यह राष्ट्र है, जिसकी हम आराधना करते हैं? नि:सन्देह कोई भी राष्ट्रभक्त इसे स्वीकार नहीं करेगा। जमीन का टुकड़ा मात्र होने से कोई राष्ट्र नहीं बन जाता। दुनिया में कई ऐसे भू-खण्ड हैं जिन्हें हम राष्ट्र नहीं कह सकते। उत्तरी ध्रुव और दक्षिणी ध्रुव के भूमिखण्डों को क्या हम राष्ट्र कह सकेंगे? इसी प्रकार दक्षिण अफ्रीका में कई भूमिखण्ड हैं जो राष्ट्र नहीं हैं। कई द्वीप भी ऐसे हैं जो भूमि के टुकड़े हैं, वहाँ लोग भी रहते हैं किन्तु वहाँ कोई राष्ट्रजीवन विकसित नहीं हुआ। इस तथ्य को अधिक सरलता से समझना हो तो हम अपने भारत के विभिन्न प्रदेशों का उदाहरण ले सकते हैं। उत्तर प्रदेश एक भौगोलिक इकाई है, बंगाल भी जमीन का एक टुकड़ा है। किन्तु उत्तर प्रदेश या बंगाल कहने से क्या किसी राष्ट्र का बोध होता है? 'भारत' कहने से जिस प्रकार का राष्ट्र-बोध होता है वैसा केवल उत्तर प्रदेश अथवा बंगाल जैसे किसी प्रदेश का नाम लेने से नहीं होता। इसलिए यह भलीभांति समझ लेना चाहिए कि निश्चित भू-भाग यद्यपि राष्ट्र के लिए एक अनिवार्य और प्रथम आवश्यकता है फिर भी केवल भू-भाग राष्ट्र नहीं बन पाता। राष्ट्र का स्वरूप जिस तत्त्व के अस्तित्व पर निर्भर करता है, वह अदृश्यमान होते हुए भी ऐसा विलक्षण तत्त्व है जिसका अनुभव सर्वाधिक तीव्रता से होता है। जो महत्त्व व्यक्ति-जीवन में व्यक्ति की अस्मिता का है वैसा ही राष्ट्रीय अस्मिता का भी है। राष्ट्रीय अस्मिता रहने से राष्ट्र जीवित रहता है, उसके क्षीण पड़ने से राष्ट्र कमजोर होता है उसके लोप अथवा विस्मरण होने से सम्पूर्ण राष्ट्र का ही विनाश होने लगता है। विश्व-पटल पर कितने ही राष्ट्र आज अतीत की स्मृति मात्र बनकर रह गये। इसका कारण भी यही है। वहाँ का भूमिखण्ड और लोग आज भी हैं, फिर भी प्राचीन ईरान, यूनान, मिस्र सब समाप्त हो गये। यानि राष्ट्र की अस्मिता, उसकी मूल प्रकृति नष्ट हो गयी। राष्ट्र का स्वरूप उसकी अस्मिता में ही निवास करता है।

जब हम कहते हैं कि व्यक्ति के समान राष्ट्र की भी एक अस्मिता होती है तो हमारे समक्ष भूमिखण्ड में निवास करने वाला एक मानव-समुदाय उपस्थित होता है। वास्तव में 'राष्ट्र' जिसकी अस्मिता के अर्थ को समझने का हम प्रयत्न कर रहे हैं एक समूहवाची शब्द ही है। जैसे कक्षा कहने से किसी एक विद्यार्थी का नहीं विद्यार्थियों के पूरे समूह का बोध होता है, उसी प्रकार राष्ट्र कहते ही समूह का बोध होता है। राष्ट्र के इस समूह को सामान्यत: जो नाम दिया जाता है, वह है 'जन' जिसे आजकल हम जनता कहते हैं। जनसमूह ही निश्चित भू-भाग में राष्ट्र के नाम से पुकारा जाता है। किन्तु वह कौन सा जनसमूह है? कौन से जन समहूबद्ध होकर राष्ट्र बनते हैं? क्या कैसे भी लोगों के समूह को हम राष्ट्र कहेंगे? कितने जन, किस प्रकार के जन? क्योंकि जिस राष्ट्रीय अस्मिता के कारण 'राष्ट्र' शब्द सार्थक होता है, वह कैसी भी भीड़ एकत्रित होने मात्र से प्रकट नहीं होती। इन प्रश्नों के उत्तर कठिन नहीं हैं, फिर भी कई लोग गड़बड़ा जाते हैं। अधिकतर लोग इस मामले में राज्य को आधार मानकर बोल उठते हैं कि राज्य में रहने वाले सभी व्यक्ति 'राष्ट्र' के जन हैं। जो

लोग इससे ऊपर उठकर सोच पाते हैं वे देश को आधार मानकर जन की कल्पना करते हैं। उनके मत में वे सभी लोग आ जाते हैं जो उस भूमि में निवास करने वाले हैं। ये दोनों तरीके राष्ट्र सम्बन्धी विचार करने के स्थूल तरीके हैं। राष्ट्र के जिस 'जन' का भाव अभिप्रेत है उसे ये दोनों विचार ठीक-ठीक व्यक्त नहीं कर पाते। इसलिए हमें राज्य अथवा देश के आधार पर 'जन' की कल्पना करने के पहले राष्ट्र के 'एक-जन' का सम्यक् विचार कर लेना होगा। तभी हम राष्ट्रीय अस्मिता की सच्ची गहराई तक पहुँच सकेंगे।

'राष्ट्र' से जिस समूह का बोध होता है, उसे हम 'एक-जन' कहते हैं। किन्तु 'जन' एक जीवमान इकाई है। जिस प्रकार व्यक्ति पैदा होता है, बनाया नहीं जाता, उसी प्रकार 'जन' की भी एक स्वतंत्र स्वयंभू सत्ता है।

यह सच है कि व्यक्तियों के समूह कृत्रिम रूप से भी बनाये जाते हैं, जैसे क्लब और संस्थाएँ — समूह में लोग एकत्रित होते हैं, नामकरण करते हैं, संस्था बनती है, संविधान तैयार होता है। जिस प्रकार ये बनाये जाते हैं, उसी प्रकार आवश्यकतानुसार तोड़े भी जाते हैं। इनके बनाने वाले और तोड़ने वाले भी होते हैं। उसी प्रकार बड़े-बड़े मजहब भी बनते हैं। कई प्रकार के सम्प्रदाय चलते हैं। राजनीतिक पार्टियाँ बनती और बिगड़ती हैं। व्यवसायों में समूहों की अलग-अलग यूनियनें बनती हैं। सफलता के लिए इनमें लोग मिलकर काम करते हैं, परस्पर सहयोग देते हैं। चाहे ताश खेलने में दो-चार का हो अथवा हजारों-लाखों का, आपस में मेलजोल होता है। किन्तु ये सब समूह बनाये जाते हैं, स्वयंभू प्रकट नहीं होते। किसी निश्चित आवश्यकता के लिए सीमित और निर्देशित उद्देश्य के कारण ये समूह बनते हैं और आवश्यकता पूर्ण होने पर अथवा बीच में ही इन्हें विसर्जित भी कर दिया जाता है।

किन्तु जिस 'जन' सत्ता की हम बात कर रहे हैं, वह इस प्रकार कृत्रिम रूप से नहीं बनाया जा सकता। ऐसा नहीं होता कि पाँच-पचास अथवा पचास-सौ करोड़ लोग एकत्रित हुए, उन्होंने अपना 'आर्टिकल ऑफ एसोसियेशन' घोषित किया, सब की सभा बुलाई गई, नामकरण हुआ, पंजीकरण कर लिया गया और वे सब 'जन' राष्ट्र कहलाने लगे। 'जन' का कोई रजिस्टर नहीं होता। न ही उनका कोई निर्माता, जनक अथवा सर्जक होता है। 'जन' कृत्रिम नहीं होता। यह जीवमान चीज है और स्वयं पैदा होती है। इसके अन्दर एक जीवन है, एक प्राणशक्ति है। कृत्रिम समूह और जीवन्त सत्ता में यह बहुत बड़ा अन्तर है। ऊपर से देखने में यह अन्तर समझ में आना कठिन है। मोटर भी दौड़ती है और घोड़ा भी दौड़ता है किन्तु दोनों में अन्तर यह है कि मोटरगाड़ी बनाई जाती है और घोड़ा किसी फैक्टरी में तैयार नहीं किया जा सकता। घोड़ा पैदा होता है। दोनों दौड़ते हैं इसलिए यदि हम दोनों को एक जैसा ही समझ कर व्यवहार करेंगे तो काम नहीं चलेगा। मोटर कृत्रिम है, इसलिए उसकी दौड़ने की शक्ति बाहर से गति नियन्त्रित कर कम या अधिक की जा सकती है किन्तु घोड़े की तो अपनी ही शक्ति होगी। इसी प्रकार सभी जीवन्त और जड़ वस्तुओं का अन्तर है।

पेड़ जमीन से पैदा होते हैं। उनका विकास बाहर से डाली, फूल, पत्ती जोड़कर नहीं किया जा सकता। जीवन्त का विकास कोई भी बाहरी वस्तु नहीं कर सकती। जीवमान का यही लक्षण है कि स्वयं विकसित होता है। 'जन' की भी एक जीवन्त सत्ता है जो स्वयं विकसित होती है। पुष्ट होकर बलशाली होती है। यह पुष्ट होना ही संगठित होना कहा जाता है। संगठन का आधार प्रेम है। यह परस्पर का प्रेमभाव भी 'जन' रूपी समूह-राष्ट्र में स्वाभाविक उत्पन्न होता है।

हम जब राष्ट्र-निर्माण शब्द प्रयोग करते हैं, तब उसका भी यह अर्थ नहीं होता कि हम कृत्रिम रूप से राष्ट्र को बना सकते हैं। जैसे मकान बनाया जा सकता है, वैसे राष्ट्र नहीं बन सकता। राष्ट्र निर्माण के पीछे का भाव है, उसे मजबूत करना। राष्ट्र उत्पन्न होना एक लम्बी प्रक्रिया है जो स्वयं सम्पन्न होती है। सृष्टि की रचना ही इसका निर्धारण करती है कि किस राष्ट्र का सृजन, अभ्युदय, पुनरुत्थान अथवा पतन हो। क्योंकि सृष्टि में राष्ट्र का भी जीवनोद्देश्य होता है। सृष्टि द्वारा निर्धारित जीवनोद्देश्य को जब तक राष्ट्र निभाता रहता है, वह अस्तित्व में बना रहता है। हम अपने ही राष्ट्र को लें। क्या हम बता सकते हैं कि किस दिन यह राष्ट्र बनाया गया? इतिहास के पन्ने उलटते जायेंगे। एक समय आयेगा जब इतिहास के पृष्ठ भी समाप्त हो जायेंगे, तब भी हमें यही कहना पड़ेगा कि उस समय भी राष्ट्र था। ऐसा कोई दिन, मुहूर्त या घटना नहीं बताई जा सकती, जब हमने राष्ट्र बनाया। विश्व के अनेक राष्ट्रों का यही क्रम है। एक लम्बी और अनवरत प्रक्रिया में से पीढ़ियां दर पीढ़ियां एक विशिष्ट प्रकृति लेकर वह 'जन' प्रकट होता है। इस जन की मूल प्रकृति ही उसका जीवनाधार रहती है। यही 'जन' अपनी मूल प्रकृति के पोषण के लिए किसी भूखण्ड से सम्बन्धित होता है। उस भूमिखण्ड के साथ उसका सम्बन्ध माँ और पुत्र के समान रहता है। अपनी जीवनाधार मूल प्रकृति के समस्त पोषण तत्त्व उसे इस भूमि से ही मिलते हैं। यह मातृभूमि ही उसका सब भांति पोषण सम्वर्द्धन करती है। यानि भूमिखण्ड केवल भूमि का टुकड़ा न होकर जीवन्त मातृशक्ति के रूप में उपस्थित रहता है। इधर इस पुत्ररूप समाज (जन) की अपनी स्वतंत्र जीवन्त शक्ति होते हुए भी वह बिना मातृभूमि के प्रकट नहीं हो सकता। उसका लालन-पालन, पोषण और वृद्धि नहीं हो सकती, यदि जननी न हो। 'जन' भी इसके लिए भूमि से आबद्ध रहता है। एक के बिना दूसरे की कल्पना करना ही कठिन है। पुत्र के बिना माँ का अस्तित्व निरर्थक है। कौन है जो उसकी गरिमा गाये, कण-कण से प्यार करे, इतिहास पढ़े, उसे गौरवान्वित करे? यह पुत्ररूप समाज न हो तो कौन है जो चप्पा-चप्पा धरती के संरक्षण के लिए चुनौतियाँ स्वीकार करे? यह भूमि के स्नेह की ही गर्मी है जो जीवन संचार करती है। 'जन' और 'भूमि' का यह परस्पर सम्बन्ध पुत्र और माँ का सम्बन्ध है। यह सम्बन्ध महत्त्वपूर्ण है अन्यथा केवल उस भूमि पर निवास करने के तो अन्य प्रकार के सम्बन्ध भी हो सकते हैं। जैसे दक्षिण अफ्रीका और आस्ट्रेलिया आदि की स्थितियाँ हैं। उस भू-खण्ड के मूल निवासियों को समाप्त कर वहाँ यूरोप की जातियाँ जा बसी हैं। इसे 'कालोनी' कहा जाता है। इन जातियों का उस भूमि से सम्बन्ध उपभोग का है। पृथ्वी पर कई भाग अथवा टापू हैं जहाँ ऐसे

लोग बसते हैं जिनके चित्त में सुदूर किसी अन्य भूमि के प्रति अनुराग रहता है। वे उस भूमि की संतान के नाते वहाँ नहीं बसते। उन्हें किसी दूसरे देश के सपने आते रहते हैं। ऐसे लोग तब तक उस भूमि के 'जन' नहीं कहला सकते, जब तक कि वे उस अन्य भूमि से अपना सम्बन्ध विच्छेद नहीं कर लेते। देश शब्द वहीं पर प्रयोग में आवेगा जहाँ पर उसका सम्बन्ध किसी एक जन के साथ हो और वह मातृवत् हो। इसलिए जब हम राष्ट्र की बात कहते हैं तो अकेले भारत कहने से काम नहीं चलता। भारत कहने के बाद जमीन के टुकड़े का विचार आता होगा। परन्तु भारत माता कहने से एक विशिष्ट सम्बन्ध स्थापित होता है जो एक जन की भावना को स्पष्ट करता है। इसलिए वे लोग जो भारत माता की जय कहने से कतराते हैं, भारत में रहकर भी भारतीय-जन नहीं बने हैं। धूर्त अंग्रेज इस सच्चाई को भली-भांति समझते थे। इसलिए उन्होंने भारत के इस 'एक-जन' को नष्ट करने के लिए भारत को 'इण्डिया' कहना शुरू किया। उनकी यह चाल कितनी सफल हुई, यह तो इसी बात से स्पष्ट है हम अपने संविधान में 'इण्डिया दैट इज भारत' हो गये हैं। अंग्रेज 'भारत' शब्द का उच्चारण नहीं कर सकते थे, सो बात नहीं, असल में वे भारत को भुला देना चाहते थे। भारत में पुत्र रूप रहने वाले जन का मातृक महत्त्व समाप्त करने की उनकी यह चाल थी। अंग्रेजों ने सोचा कि इण्डिया कहने पर कोई इण्डिया-माता नहीं कह सकेगा और तब भारत माता की जय का लोप सहज हो जायेगा।

तथापि सौभाग्य से इसका लोप नहीं हो पाया। भारत माता की जय का नाद गूंजता रहा। हमारी राष्ट्रीयता का आधार 'भारत माता' है, केवल भारत नहीं। माता शब्द हटा दीजिए तो भारत केवल जमीन का एक टुकड़ा मात्र रह जायेगा। इस भूमि का और हमारा ममत्त्व तब आता है जब माता वाला सम्बन्ध जुड़ता है। कोई भी भूमि तब तक देश नहीं कहला सकती, जब तक कि उसमें किसी जाति का मातृक ममत्त्व यानि ऐसा ममत्त्व जैसा पुत्र का माता के प्रति होता है, न हो। यही देशभक्ति है। तथापि देशभक्ति का मतलब जमीन के टुकड़े के साथ प्रेम होना मात्र नहीं है। अन्यथा कई पशु-पक्षी भी तो अपने घर से बहुत प्रेम करते हैं। सांप अपना बिल नहीं छोड़ता, शेर मांद में ही निवास करता है, पक्षी अपने घोंसले में रोज लौट आते हैं। किन्तु ये देशभक्त हैं, ऐसा नहीं कहा जाता। मानव भी जहाँ रहता है, वहाँ से उसका कुछ न कुछ लगाव हो ही जाता है। फिर भी इतने मात्र से देशभक्ति नहीं आती। उन लोगों का प्रेम ही देशभक्ति कही जायेगी जो देश में एक जन के नाते सम्बद्ध हैं। पुत्र रूप एक जन और माता रूप भूमि के मिलन से ही देश की सृष्टि होती है। यही देशभक्ति है जो अमर है। इसका सबसे ताजा उदाहरण हमारे सामने इज़रायल का है। इज़रायल का पहले भी 'जन' और भूमिखण्ड, पेलेस्टाइन था। पेलेस्टाइन के साथ उनका सम्बन्ध मातृत्व का था। परन्तु वे पेलेस्टाइन में थे नहीं। दुनिया भर में खानाबदोश के समान घूमते थे। वे जर्मनी, फ्रान्स, इंग्लैंड में रहे। उन्होंने बड़े-बड़े काम भी किये किन्तु सदा अपनी भूमि के लिए तड़पते रहे। माता के लिए जैसा पुत्र तड़प सकता है, वैसे ही वे वर्षों रहे। इतने वर्षों तक वे अपने राष्ट्रत्व को जीवित रख

सके और आज अपनी मातृभूमि में पहुँच गये। एक जन की मातृभूमि के प्रति यह चेतना ही वह वस्तु है जो अक्षय शक्ति प्रदान करती है।

अस्तु, राष्ट्र का स्वरूप इस 'एक-जन' की सामूहिक मूलप्रकृति द्वारा निर्धारित होता है। यही 'चिति' है। काल और परिस्थिति के अनुसार बाहरी ढाँचे में चाहे जो परिवर्तन होते रहें किन्तु राष्ट्र की मूल प्रकृति नहीं बदलती। जिन सिद्धान्तों को चरितार्थ करने के लिए राष्ट्र का आविर्भाव हुआ है उनका पालन होते रहने तक 'चिति' विद्यमान रहती है। राष्ट्र में चैतन्य बना रहता है। राष्ट्र बड़े से बड़ा त्याग करने को उद्यत रहता है। गंभीर से गंभीर संकट में भी विजयी होकर आगे बढ़ता है। जिस प्रकार व्यक्ति-जीवन में बाल्यकाल से लेकर वृद्धावस्था तक अनेक परिवर्तन होते हैं, कई प्रकार के सुख-दु:ख, सम्पत्ति-विपत्ति, उन्नति-अवनति के क्षण आते हैं, फिर भी व्यक्ति अपनी अस्मिता को जाग्रत रख अपनी जीवनयात्रा पूर्ण करता है और सदा अपनी अस्मिता के आधार पर अच्छी-बुरी, ग्राह्य-अग्राह्य, मान्य-अमान्य का निर्णय करता हुआ प्रत्येक अच्छे-बुरे प्रसंग एवं वस्तु का ठीक-ठीक उपयोग करता है, इसी प्रकार 'एक-जन' रूपी यह राष्ट्र मातृभूमि के प्रति एकान्तिक निष्ठा के साथ अपनी मूल प्रकृति को यानि 'चिति' को जाग्रत रखता हुआ समर्थ, स्वावलम्बी, कार्यक्षम, विजयी और सर्वकाल नवोन्मेषकारी शक्ति से युक्त जीवित रहता है।

यह 'चिति' जनसमूह के प्रत्येक व्यक्ति में मातृभूमि के प्रति परमसुख की भावना रूप में रहती है। वह सर्वोत्कृष्ट सुख जिसके समक्ष अन्य सब बातें फीकी लगें, इस 'चिति' द्वारा स्थापित होता है। इसकी झलक व्यक्ति के सब प्रकार के कार्यों में दिखाई पड़ती है। उसके समस्त व्यापार, नि:शेष चेष्टाएँ अखिल कर्म इसी 'चिति' के प्रकाश में चैतन्य रहते हैं। जब तक 'चिति' जागृत और निरामय रहती है तब तक राष्ट्र का अभ्युदय होता रहता है। इसी चेतना के आधार पर राष्ट्र संगठित होता है। 'चिति' से जागृत और एकीभूत हुई समष्टि के प्राकृतिक क्षात्र शक्ति अर्थात् अनिष्टों से रक्षा करने वाली शक्ति 'विराट्' कही जाती है। व्यक्ति एक सामाजिक प्राणी है। सामूहिक जीवन जीने के लिए उसे सहानुभूति का भाव प्रकृति से प्राप्त होता है। यह सहानुभूतियुक्त तेज ही व्यक्ति को समाज के हितार्थ आत्मत्याग के लिए प्रेरित करता है। परस्पर सहानुभूति की यह भावना समष्टि की रक्षा के लिए व्यक्तिगत शक्ति को न्यूनाधिक रूप से एकीभूत कर केन्द्रस्थ करती है। यही विराट् है, जो चिति के प्रकाश से जागृत होती है और हम कहते हैं कि राष्ट्र जाग उठा है। विराट् राष्ट्र का प्राण है तो चिति आत्मा है।

'चिति' के प्रकाश से जागृत एक-जन की संगठित कार्यशक्ति 'विराट्' से संचालित जीवन मातृभूमि की आराधना में इहलौकिक तथा पारलौकिक सभी प्रकार के ऐश्वर्य की प्राप्ति करता हुआ विश्व में अजेय बनकर खड़ा होता है। यही राष्ट्र के सम्बन्ध में चिरन्तन सत्य सिद्धान्त है और इसी सत्य का प्रकटीकरण भारत में हिन्दू राष्ट्र है।

श्री और स्वस्तिक

ललित शर्मा

सौन्दर्य एवं सौभाग्य के प्रतीक 'श्री' और 'स्वस्तिक' प्राचीन धर्म संस्कृति के प्रमाणभूत साक्ष्यों के रूप में सदियों से अपना महत्व रखते आये हैं। ज्योतिपर्व दीपावली तो इन्हीं के लिए प्रसिद्ध हैं। देवी-देवताओं, परम्पराओं में इन प्रतीकों का प्रमुख महत्व आज भी है। इन दोनों प्रतीकों का विश्लेषण विधाओं के आधार पर इस प्रकार समझा जा सकता है।

श्री

मानव जीवन में सत्यं, शिवं एवं सुन्दरम् की आराधना तथा उपासना में इन तीनों भावों का अपूर्व समायोजन मिलता है। व्यक्तित्व को समुन्नत, सुविकसित समृद्ध और कान्तिवान बनाने का सम्पूर्ण तत्वज्ञान जिस एक ही अक्षर में समाविष्ट है वह है श्री, अर्थात् जो इस बारे में सोचते विचारते और तदनुरूप कदम उठाते हैं वे ही 'श्रीवान' अथवा 'श्रीमान' कहलाते हैं। समग्र सम्पत्तियों की अधिष्ठात्री श्रीदेवी सत्वमयी है। वे ही धन, विजय, राज, गृह आदि की प्रमुख लक्ष्मी है और वह उन श्रीवानों, श्रीमानों के ही पास रहती है, जो जीवन में कठोर परिश्रम, सत्य, न्याय, भक्ति आदि का आचरण करते हैं। वैदिक ऋषि सभी को सुखी और समृद्ध देखना चाहते थे। यह चिरपुरातन 'श्री' शब्द वर्तमान तक सम्मानजनक रूप से प्रचलित है। श्री के कारण ही ब्रह्म को अनन्त शक्ति या सृष्टि, स्थिति का प्रतीक और पालन करने वाला कहते हैं। इस आधार पर श्रीयंत्र ब्रह्माण्ड और पिण्ड दोनों का ही बोध कराता है। इस यंत्र में निराकार ईश्वर की साकार लीला निहित की गई है।

ऋग्वेद में 'श्री' और 'लक्ष्मी' को एक ही अर्थ में प्रयुक्त किया गया है। शतपथ ब्राह्मण में 'श्री' की उत्पत्ति का वर्णन मिलता है। वह (श्री) ब्रह्मा के अन्तस से अर्विभूत होती है। अपूर्व सौन्दर्य एवं तेज से वह सम्पन्न है और ब्रह्मा स्वयं उसका अभिनन्दन करते हैं। बदले में वह श्री (देवी) जो आद्य है, से वे सृजन क्षमता का चिर वरदान प्राप्त करते हैं। तैतरीय उपनिषद् में 'श्री' का अन्न, जल, गोरस, वस्त्र जैसी समृद्धियां प्रदान करने वाली आद्य-शक्ति के रूप में उल्लेख है। गृह-सूत्रों में उसे उत्पादन की उर्वरा शक्ति माना गया है।

श्री सूक्त में श्री और लक्ष्मी को भिन्न मानते हुए अभिन्न उद्देश्य पूरा कर सकने वाली दर्शाया गया है। 'श्रीचते लक्ष्मीश्चते' इसमें 'श्री; को तेजस्विता और लक्ष्मी को सम्पदा के अर्थ से संम्पृक्त किया गया है। शतपथ ब्राह्मण में 'श्री' की फलश्रुति में यह भी निहित किया गया है कि– 'वह (श्री) जिन दिव्यात्माओं के अन्तरतम में निवास करती है, वे तेजोमय हो जाते हैं।' अथर्ववेद में

'श्री' का प्रयोग पृथ्वी के अर्थ में हुआ है। धरा, मातृभूमि के प्रति श्रद्धा की अनुपम अभिव्यक्ति करने के लिए 'श्री' का उच्चारण एवं लेखन होने का इन ऋचाओं में स्पष्ट रूप में संकेत हैं।

आरण्यकों में 'श्री' को सोम की प्रतिक्रिया अर्थात् 'आनन्दातिरेक' कहा गया है। गोपथ ब्राह्मण में उसकी चर्चा शोभा-सुन्दरता के रूप में हुई है। वाजसनेयी आरण्यक में 'श्री' और 'लक्ष्मी' की उत्पत्ति अलग परन्तु पृष्ठ में दोनों के एकाकार होने का भी कथानक है। भारतीय पुराणों में 'श्री' की उत्पत्ति समुद्र मंथन से मानी गयी। इस आशय में प्रबल पुरुषार्थ का संकेत है। अर्थात्– 'खारे जलागार के तल से भी पुरुषार्थी लोग वैभव वर्चस्व प्राप्त कर सकते हैं।' इसी तथ्य को लक्ष्मी के जन्म से सम्बद्ध किया गया। जैन मत के कल्पसूत्र की एक कथा में भगवान महावीर के किसी पूर्व जन्म में उनकी माता त्रिशला होने का वर्णन है, जिसने दिव्य स्वप्न में 'श्री' के दर्शन किये थे। श्री की प्रतिष्ठा जब किसी नाम के आगे होती है तो वह उसे भी गरिमावान बना देती है। इसी कारण किसी को गरिमा, सम्मान प्रदान करने के लिए उसके नाम के आगे 'श्री' लिखने का प्रचलन रहा है।

आध्यात्मिक पुरुषों, महापुरुषों, संतों, चिंतकों आदि के सुनाम से पूर्व 'श्री' लगाने का मूल अर्थ यही है कि वे प्रतिष्ठित व्यक्ति हैं। 'श्री' लगने से व्यक्तित्व की छवि जन मानस में प्रतिभासित होती है।

'श्री' को भारतीय धर्म-संस्कृति में इतना अधिक महत्व इसलिये दिया गया है कि इसमें व्यक्तित्व का आन्तरिक सौन्दर्य, व्यावहारिकता, तेजस्विता और भौतिक समृद्धि के प्रति आस्थावान और प्रयत्नशील रहने के लिये संकेत है। 'श्री' को नाम से पूर्व जोड़ने में इसी सद्भावना एवं शुभकामना की अभिव्यंजना है कि – 'श्रीवान' 'श्रीयुत' व्यक्ति प्रकाशित दिशा की ओर अग्रसर हो। अत: यह कहना समीचीन होगा कि 'श्री' शक्तिस्वरूप है। इसकी आराधना से लौकिक, पारलौकिक ऐश्वर्य, आनन्द प्राप्त होता है। यूं तो इसकी पूजा नित्य फलदायी होती है लेकिन दीपावली तो इसका महापर्व—महोत्सव है। 'श्री' की उपासना से व्यक्ति का जीवन सुखी, समृद्ध व सौन्दर्यपूर्ण होता है।

स्वस्तिक

धर्म धारणा के आधार पर देवों के चारों ओर घूमने वाले दिव्य आभा मण्डल का चिन्ह 'स्वस्तिक' होने एवं उसका प्रतीक होने के कारण सृष्टि समय से ही इसे परम् शुभ माना गया है। इस आशय को इस प्रकार भी सिद्ध किया जा सकता है कि देवताओं का तेज कल्याणमय होता है, जो उपासकों के लिए सर्वश्रेष्ठ है। इसलिए हम तेज की द्रुतगति के अनुरूप उस परम तेज को स्वीकार करते हैं, जिसे परिक्रमा कहते हैं और इसी कल्याणमयी गति के चिन्ह को 'स्वस्तिक' कहा जाता है। स्वस्ति का अर्थ क्षेम, मंगल आदि 'शुभस्य' हैं तथा 'क' शब्द 'कारक' हैं। मूलत: इसलिए देवताओं का तेज शुभ करने वाला 'स्वस्ति' + 'क' है। इसका भौतिक चिन्ह 卐 है। इसका

आधार वेद—वाक्य भी यही है। इस स्वस्तिक चिन्ह का गणित, विज्ञान, संस्कृति, पुरातत्व आदि में ससम्मान प्रयोग और विश्व के कई देशों में परिक्रमा के साथ अंगीकार करने के तथ्य भी कम रहस्य पूर्ण नहीं हैं।

दिशायें प्रमुखतः चार हैं। खड़ी तथा सीधी रेखा से जो धन का चिन्ह + बनता है वह चारों दिशाओं का प्रतीक है। तेजपूर्ण लहरें चारों दिशाओं में दाहिनी ओर से गतिशील होती हैं। यह प्रदर्शित करने के लिए उपरोक्त प्रकार का चिन्ह बनाया जाता है। गणित के आधार को देखा जाये तो धन चिन्ह के आकार की चारों भुजाओं के कोने में ९० अंश का कोण बनाने वाली एक रेखा दाहिनी ओर खींचने से यह कार्य पूर्ण हो जाता है। इसका आरम्भ ऊपर वाली भुजा से करना होता है। इस प्रकार ऊपर की जो भुजा है, वहां दाहिनी ओर घुमाने से पूर्व की दिशा की बाँयी भुजा चक्र—गति से ऊपर आयेगी। इसी प्रकार दाहिनी ओर रेखा खींचने से मिलकर जो चिन्ह बनता है, वह दक्षिणावर्ती गति का प्रतीक होता है। तेजोवलय के दाहिनी ओर से गतिशील होने के कारण इस रेखा चित्र को देवता के महातेज का प्रतीक 'स्वस्तिक' माना गया है। भारतीय धर्म-दर्शन में स्वस्तिक को सबसे श्रेष्ठ ऋद्धिदायक माना है — "स्वस्तिक-सर्वतो ऋद्धि" अर्थात् मंगलमय और ज्योर्तिमय स्वस्तिक, कल्याण, ऊर्जा एवं ऐश्वर्य का प्रतीक हैं, इसलिए वह मानव जाति के प्राचीन से अब तक के जीवन में महत्त्वपूर्ण स्थान रखता है। मसलन अनुष्ठान, गृह प्रवेश, विवाह, देव पूजन, राज्य अभिषेक आदि का शुभारम्भ स्वस्तिक पूजन से ही होता है और देव आभा मण्डल में भी यही स्वीकृत है।

विक्रम विश्वविद्यालय, उज्जैन के कुलानुशासक, हिन्दी आचार्य प्रो. शैलेन्द्र शर्मा का मानना है कि — वेदों में मंगल कामना के लिए की जाने वाली कई प्रार्थनाएं हैं। परमात्मा को अनेक गुण वाचक नामों से वेदों में रेखांकित किया गया है। इसी प्रकार स्वस्तिक नाम का एक मंत्र यजुर्वेद में इस प्रकार है :

स्वस्ति न इन्द्रो वृद्धश्रवाः स्वस्ति नः पूषा विश्ववेदाः।
स्वस्ति नस्ताक्ष्‍र्योअरिष्टनेमिः स्वस्ति नो बृहस्पतिर्दधातु।

(यजुर्वेद, २५/१९)

प्रो. शैलेन्द्र शर्मा के अनुसार इसी स्वस्तिक का एक मंत्र ऋग्वेद में भी है जो स्वस्ति कल्याण की कामना से युक्त है :

स्वस्ति नः पथ्यासु धन्वसु, स्वस्त्यप्सु वृजने स्वर्वति,
स्वस्ति नः पुत्रकृथेषु योनिषु, स्वस्ति राये मरुतो दधातन।

मानव के पुष्टिवर्धन, स्वास्थ्य, सौन्दर्य का सुन्दर समन्वय लिये यही स्वस्तिक प्रत्येक प्रकार से मंगलमय है जो मानव जीवन को गरिमा प्रदान करता है। तेज पुंज होने के कारण इसका

आधार सूर्य है। यही कारण है कि अतीत में सतत् रूप से प्रवाह युक्त होने वाला यह चिन्ह आज भी संसार के देशों में श्रद्धाभाजन बना हुआ है। स्वस्तिक की चार भुजायें (रेखायें) ब्रह्मा के चार मुख व विष्णु की चार भुजाओं का रूप है। मूलत: यह भुजायें सृष्टि के नियामक भगवान शिव के त्रिशूल सी दृष्टिगोचर होती हैं। कुछ विद्वान इसे सृष्टि–चक्र गणना का काल–मापक या काल–दर्शक मानकर ज्योतिष ज्ञान में उपयोग में लेते हैं। भारतीय संस्कृति में चार पुरुषार्थों के साथ पराक्रम व भौतिक जीवन की उपलब्धि के विषय में भी इसका बहुत महत्त्व है। धारणा के अनुसार स्वस्तिक चार वेदों – इन्द्र, वायु, सूर्य तथा वरुण का भी प्रतीक माना गया है। इसकी अष्ट भुजायें मानी गई हैं जो पृथ्वी, अग्नि, जल, वायु, आकाश, मेधा–शक्ति आदि की प्रतीक मानी जाती हैं। इस प्रकार ये ब्रह्माण्ड (चर–अचर) का संचालन करती है। इसी क्रम में यही स्वस्तिक ब्रह्माण्ड के चार नक्षत्रों में बंटा है। पुष्य, चित्रा, श्रवण और रेवती ये चारों दिशायें हमें हमारे सर्वांगीण उत्थान के लिए शुभ, कल्याणकारी होती हैं।

विश्व के प्राचीन से अर्वाचीन इतिहास, संस्कृति में स्वस्तिक का बड़ा भारी महत्त्व रहा है। मध्यप्रदेश के जाने माने कला विशेषज्ञ, इतिहासविद् नर्मदा प्रसाद उपाध्याय के अनुसार बौद्ध इतिहास में भगवान बुद्ध के पद चिन्ह में बारह स्वस्तिकों को बौद्धमतानुयायी बड़े ही आदर और पवित्र भाव से देखते हैं। गौतम बुद्ध की एड़ियां, हृदय और अंगुलियों में स्वस्तिक के चिन्ह होने से बौद्धों के लिये यह आदरणीय रहा है। जैन धर्म के प्राचीन इतिहास में स्वस्तिक का अत्यधिक महत्त्व है। स्वस्तिक की चार भुजाओं को जैन संस्कृति में देवगति, मनुष्यगति, तीरयांचगति तथा नरकगति के रूप में वर्णित किया गया है। पुरातत्व एवं संग्रहालय विभाग राजस्थान जयपुर के वरिष्ठ अधीक्षक पुराविद् सत्यप्रकाश श्रीवास्तव के अनुसार सिन्धु घाटी की सभ्यता और ईस्टर द्वीप पर एक समय से प्रचलित रोगों अब्लेट पर भी स्वस्तिक का चिन्ह देखने को मिलता है। प्राचीन मेसोपोटामिया में स्वस्ति चिन्ह का उपयोग अनेक महत्त्वपूर्ण अवसरों पर होता था। वहां के प्राचीन सैनिक अपने अस्त्र–शस्त्र पर इसका निशान रखते थे, जो विजय का प्रतीक माना जाता था। श्रीवास्तव के अनुसार – 'स्वस्तिक का चिन्ह इतिहास की सहस्राब्दियों से पवित्र स्थानों, पवित्र वस्तुओं, मन्दिरों, मूर्तियों और ध्वज पताकाओं पर अंकित होता रहा है। प्राचीन शिला लेखों, सिंहासनों और पीठिकाओं पर इसके चिन्ह खोदे जाते रहे हैं। संवत् प्रवर्तक सम्राट विक्रमादित्य के राजध्वज के मध्य लाल रंग का स्वस्तिक का चिन्ह अंकित था।

चीन, म्यांमार और मध्य एशिया के देशों में भी स्वस्तिक का निशान सौभाग्य का प्रतीक मानकर मुख्य अवसरों पर उसका उपयोग किया जाता था। जर्मन तानाशाह हिटलर की नाजी सेना का मुख्य निशान स्वस्तिक ही था। जर्मनवासी स्वस्तिक को आज भी सौभाग्यशाली मानते हैं और अपने राष्ट्रीय ध्वज में यही चिन्ह अंकित रखते हैं। यूनान में एंथेस स्थित हेनरिक स्किली मान के

आलीशान महल के मुख्य द्वार पर भी स्वस्तिक का चिन्ह लगा हुआ है। इनके अलावा स्वस्तिक को अनेक देशों में अलग-अलग संकेतों से जाना जाता है जैसे मिस्र में क्रॉस, जर्मनी में आइरनक्रॉस, चीन में ताऊ-द-क्रॉस आफ-द-रांसीक्रसियन। मूलत: ये सब स्वस्तिक के ही नाम हैं। माना जाता है कि यह भारतीय मूल स्वस्तिक के ही रूप हैं तथा उसी से प्रेरित हैं। पाश्चात्य वैज्ञानिक स्वस्तिक को क्रिया-प्रतिक्रिया के सिद्धान्त का प्रतीक मानते हैं। उनके मतानुसार — समूचे जीव जगत का नियम इसी चिन्ह के कारण संचालित होता है और यह धारणा पूर्व काल से ही रही है। चीन, म्यांमार के ग्रंथों, मकानों, वस्त्रों पर स्वस्तिक को आज भी सम्मानजनक स्थान मिलता है। कोरिया में भी स्वस्तिक का प्रचलन है। यूरोप में प्राचीन काल से इस चिन्ह का काफी प्रचलन रहा है। यहां प्राचीन उत्खनन में भूगर्भ से प्राप्त वस्तुओं पर स्वस्तिक के चिन्ह पाये गये। ट्रायगर के प्राचीन भग्नावेशों से प्राप्त मिट्टी और धातु की वस्तुओं में स्वस्तिक खुदा हुआ मिला है। ये अवशेष पांच हजार वर्ष पूर्व के बताये गये हैं। इसी क्रम में काकेशा के पास कोबन नामक स्थान से खुदाई में एक आभूषण पर वर्तमान की भांति तीन स्वस्तिक चिन्ह अंकित मिले हैं। यह आभूषण २५०० वर्ष पूर्व का है। उत्तरी अमेरिका के कई स्थलों की खुदाई में ईसा की चौथी शताब्दी की मिली पुरा वस्तुओं पर भी स्वस्तिक खुदा मिला है। ब्रिटिश इतिहासकार एल.जी. वेल्स ने अपनी पुस्तक 'इतिहास की रूपरेखा' में यह स्वीकार किया है कि स्वस्तिक का आरम्भ पाषाण युग में होने का पता चलता है। ऐसा ही 'सर रे लंकेस्टर' का भी मत है। उनके अनुसार स्वस्तिक को 'गामाडियन' भी कहते हैं। चार गामा समकोण एक दूसरे से मिला दिये जायें तो स्वस्तिक बन जाता है। इसी कारण स्वस्तिक का नाम गामाडियन हुआ। सारत: प्राचीन धर्म, दर्शन, पुराण, पुरातत्व, संस्कृति में 'श्री' और 'स्वस्तिक' का महत्त्व एवं स्थान मंगल रूप में सर्वोपरी रहा है, जो आज भी मान्य है। यह दोनों प्रतीक सनातन काल से देव वर्ग के साथ-साथ संसार के कई देशों की संस्कृति में वन्दनीय हैं।

जैकी स्टूडियो, १३ मंगलपुरा,
झालावाड़ ३२६००१ (राज०)

सृष्टि आख्यान ✍

छतीसगढ़ की लोकश्रुति में सृष्टि की उत्पत्ति

किशोर तारे

छतीसगढ़ प्रदेश में राजाओं के शासन काल में प्रमुख रूप से रायपुर और रतनपुर नामक दो राज्यों का वर्चस्व रहा है। इन दोनों राज्यों में सुरक्षा की दृष्टि से १८-१८ दुर्ग बने थे। दुर्ग के लिए सामान्यत: यहाँ गढ़ शब्द का प्रयोग होता है। दोनों राज्यों के १८-१८ गढ़ों का योग ३६ बनता है। इन ३६ गढ़ों की ऐतिहासिक प्रसिद्धि से ही इस प्रदेश को छतीसगढ़ नाम प्राप्त हुआ है। इस प्रदेश की अपनी समृद्ध संस्कृति है जिसमें भारतवर्ष की सनातन राष्ट्रीय धारा का मौलिक प्रवाह स्पष्ट दृष्टिगोचर होता है। यहाँ की लोकश्रुतियों में सांस्कृतिक परम्पराओं का अथाह भण्डार सुरक्षित है। सृष्टि की उत्पत्ति के सम्बन्ध में यहाँ की लोकश्रुति छतीसगढ़ी बोली में निम्नलिखित रूप में प्रचलित है—

सुरुले देवतामन सकती सरूप अऊ आकारहीन रहीस। जिहां ओमन राहत रहीन, उहां अब्बड उजियारा रहीस, दूसर डहार अंधियारा रहीस। सकती तीन हिस्सा में बटीस, तभे बरहमा, बिस्नू अउ महेस के जनम होय हे। काबर के सकती ह अक्सय रहीस, एकर सेती ओमा तीन जन के जनम होइस पर सकती में घलो थोर कू कमी नहीं आइस। ओकर बाद बरहमा सृष्टी ला बनाइस अउ सूरज, चंदा, तारा अउ ए भूयां ला घलो बनाइस। पहली-पहली ए सब्बेह अब्बड जोर से घूमत रहीस। सब्बे मन अब्बर जोर चकमकात रहीन। ओकार बाद सूरज अउ तारा भर चकचकात रहीन अउ चंदा भूयां ह कैसन बूझागे। ओकर बाद बरहमा भूयां मां सबू जीव मन ला पैदा करीस। पहाड़ी, नदिया, सागर, रेतीला भूयां ला घलो बनाइस। बिधलन काई, मछरी, कछवा, बरहा, नरसिंहा बना के तेखर बाद नानकुन बामन बनाइस। तब ले मनखे मन के सुरवात होइस। बरहमा ला मनखे मन के पैदाइस बने लगीस। एकर सेती अधिक मनखे बनायबर बरहमा, माई लोगन ला घलो बनाइस। अब ओला आराम से बैठे के बिस्नू भगवान ला सभे जन के पाले पोसे के काम देइस अउ महेस ला बुराई ला मिटाय के काम देइस, जेखर से पुरना जा के नवा-नवा मनखे मन पैदा होवत रहे। एखरे सेती बरहमा रितू बनाइस अउ वारिस ला घलो चालू करीस। तभे तो पेड़ पौधामन जागीस। जेखर सेती नान नान कीरामकोरा जागीस। हमर देवभूमी छतीसगढ़ मां सबुले आगू चांउर के बीजा जागीस। पाछू में सारी डहार कोटां कोटां ला ओहू बिगर गे। येला माने ला पड़ही, सृष्टी के पैदाइस अंधियार अउ सकती महतारी से होइसे।

हिन्दी भावार्थ

प्रारम्भ में देवता शक्ति स्वरूप व निराकार थे। केवल वह अनिर्वचनीय अवकाश (शून्य स्थान) प्रकाशमय था, उस के अतिरिक्त सर्वत्र घना अंधेरा था। जब शक्ति का तीन भागों में

विभाजन हुआ, तब ब्रह्मा, विष्णु, महेश प्रकट हुए। शक्ति के अक्षय स्वरूप के कारण, इन तीनों के प्रकट होने पर भी शक्ति में कोई कमी नहीं आई। तत्पश्चात् देव ब्रह्मा ने सृष्टि का निर्माण किया एवं सूर्य, चन्द्र, तारे और पृथ्वी को बनाया। प्रारम्भ में ये सारे तेजी से घूम रहे थे। सभी अत्यधिक प्रकाश से चमक रहे थे। कालान्तर में सूर्य और तारों में वैसी ही चमक बनी रही, लेकिन चन्द्रमा और पृथ्वी प्रकाशहीन हुए। उसके बाद ब्रह्मा ने पृथ्वी पर सम्पूर्ण जीव-सृष्टि की रचना की। पहाड़, नदी, सागर, मरुभूमि का निर्माण किया। फिसलन भरी काई, मछली, कछुआ, बाराह, नृसिंह आदि अवतार बने, तदोपरान्त ठिंगना वामन अवतार आया। तब से मानव रूप की शुरुआत हुई। ब्रह्मा जी को मानव का पैदा होना अच्छा लगा। अत: अधिक मानव उत्पन्न करने के उद्देश्य से ब्रह्मा ने नारी को बनाया। अब स्वयं आराम से बैठ कर विष्णु भगवान को सब के पालन-पोषण का काम दिया और शंकर जी को संहार का काम सौंपा, जिससे पुराने के बदले में नये-नये मनुष्य एवं प्राणी पैदा होते रहें। इसी के लिए ब्रह्मा ने ॠतुएं बनाई और बरसात का प्रचलन किया। तब पेड़ पौधे उत्पन्न हुए। उसी से नन्हें कीड़े-मकौड़े पैदा हुए। हमारी इसी देवभूमि छतीसगढ़ में सबसे पहले चावल का बीज आया। बाद में यह सब जगह कोने-कोने में जा पहुंचा। यह मानना होगा कि शक्ति माता की कृपा से अन्धकार में से सृष्टि की उत्पत्ति हुई है।

छतीसगढ़ की भांति देश के अन्य भिन्न-भिन्न स्थानों की लोकश्रुतियों में भी सृष्टि उत्पति के सम्बन्ध में लोक परम्परा की अभिव्यक्ति होती है। जैसा कि महाराष्ट्र प्रान्त में मान्यता है कि सृष्टि की रचना से पहले सर्वत्र अन्धकार-ही-अन्धकार था। परमेश्वर ने स्वंय की इच्छा से सृष्टि की रचना करते हुए प्रत्येक वस्तु को गोल और गतिमान बनाया। कालान्तर में सब को गोलाकार सजाया जिनके मध्य में सूर्य था। विविधता उत्पन्न करने के लिए परमेश्वर ने एक दण्ड (डंडा) की नोक से गोल घूमती हुई पृथ्वी को झुकाया। इसी से वर्षा आदि ॠतुएं प्रारम्भ हुई। यह दिन वसन्त ॠतु का चैत्र शुक्ल प्रदिपदा का दिन माना जाता है। यही दिन नव संवत्सर अर्थात् नये वर्ष का पहला दिन होता है। इसी दिन से कालगणना का आरम्भ माना जाता है। परमपिता के उस पवित्र दण्ड के प्रति कृतज्ञता प्रकट करने के लिए महाराष्ट्र में चैत्र शुक्ल प्रतिपदा को प्रतिवर्ष गुडी पडवा का पर्व श्रद्धा और हर्षोल्लास से साथ मनाया जाता है जिसमें दण्ड के प्रतीक गुडी की बड़े सुन्दर ढंग से सजा कर पूजा की जाती है।

इन भिन्न-भिन्न लोकश्रुतियों में एक बात मुख्य रूप से सामने आती है कि सृष्टि रचना से पहले सब जगह अन्धकार छाया हुआ था। वास्तव में जहां बुद्धि की पहुंच कुण्ठित होती है, वहां अन्धकार ही छाया होता है। उस अन्धकार को दूर कर के ज्योति स्वरूप परमात्मा ने सृष्टि की विविधतापूर्ण भव्य रचना की है।

चौबे कॉलोनी
रायपुर – ४६२००१(छतीसगढ़)

कुल्लू की देव-वार्ताओं में सृष्टि रचना वृत्तान्त

डॉ० सूरत ठाकुर

हिमाचल प्रदेश का कुल्लू जिला देवभूमि के नाम से विख्यात है। यहा गाँव-२ में असंख्य देवी-देवताओं का वास है जिनमें प्रमुख देवी-देवता अपने-अपने पर्व-उत्सवों में गूर (देव प्रवक्ता रूपी देवता का चेला) के मुख से अपने जीवन और कार्य का कथा-वृत्तान्त सुनाते हैं। ये वृत्तान्त 'देव भारथा' कहलाते हैं। भारथा शब्द मूल रूप से संस्कृत का 'वार्ता' शब्द है जो परिवर्तित होकर 'भारथा' हो गया है। देवी-देवताओं की भारथा में सृष्टि रचना सम्बन्धी वृत्तान्त भी सम्मिलित रहता है। सृष्टि रचना का प्रमुख वृत्तान्त भारथा में प्राय: निम्नलिखित रूप में सुनाया जाता है :

मूल रूप	*हिन्दी रूपान्तर*
निहार घोर थी।	*घोर अन्धकार था।*
सेई मेई संसार थी।	*संसार परब्रह्म परमात्मा में समाया हुआ था।*
परमेशरा बै संसार बसाणे री सोठणी आई।	*परमेश्वर को संसार बसाने का विचार आया।*
परिथी बणाई	*पृथ्वी बनाई।*
परिथी मौंझै,	*पृथ्वी के बीच,*
घाह-पौच,	*घास-पात,*
बूटे-झ़ाटै,	*वृक्ष-झाड़ी,*
ज़ीऊ-ज़न्त,	*जीव-जन्तु,*
पशु-पंछी,	*पशु-पक्षी,*
पेइदा केरै।	*पैदा किए।*
संसारा रा,	*संसार का,*
चाल- व्यौहार,	*चाल-व्यवहार,*
चलाणा कठे,	*चलाने के लिए,*
माण्हूं बणाणे री सोठी।	*मानव बनाने का विचार किया।*
सूनै रै बणाए,	*(मानव) सोने के बनाए,*
वाक नीं छूटी।	*वाणी नहीं निकली।*
चांदी रै बणाए,	*चांदी के बनाए,*
वाक नी छूटी।	*वाणी नहीं निकली।*

त्राम्बे रै बणाए,	तांबे के बनाए,
वाक नी छूटी।	वाणी नहीं निकली।
आपणी देह मरोड़ी,	अपना शरीर मरोड़ कर,
मलूण कौढ़ी।	मैल निकाली।
मलूणी री,	मैल की,
मिंगण बणाई।	मिंगण (भेड़ों की मिंगण जैसी) बनाई।
मिंगणी रा,	मिंगण का,
माण्हूं बणाऊ।	मानव बनाया।
परमेशरै हाक धिन्नी,	परमेश्वर ने आवाज़ लगाई,
माण्हूं मिंगणी	मानव मिंगणी
माण्हूं न वाक छूटी,	मानव से वाणी निकली,
बोलू हूं।	वह बोला हूं।
परमेशरै बोलू,	परमेश्वर बोले,
भेटी मौड़ा,	उस ओर ऊपर लाश होगी
बेऊड़ी धूं।	इस ओर नीचे धुआं होगा।
	(अर्थात् मृत्यु इतनी अनिश्चित होगी कि एक ओर जहां लाश जल रही होगी, दूसरी ओर वहां और लाश पहुंच जाएगी।
ज़े माण्हूं,	यदि मानव,
बोलदा ज़ी।	(हूं की जगह) जी बोलता।
परमेशरा देणा थी बौर,	परमेश्वर ने वरदान देना था,
लाख बौरशा ज़ी।	लाख वर्ष की आयु जी।
यै माण्हूं,	यह मानव,
पुरख थी।	पुरुष था।
माण्हूं रा वाधा,	मानव की वृद्धि,
वधाणै री तैईं,	बढ़ाने के लिए,
एक इस्त्री बणाई।	एक स्त्री बनाई।
एण्डा केरिआ,	ऐसा करने से,
एकी माण्हूं न दूई हुए।	एक मानव से दो हुए।
दूई रै दस बणै,	दो के दस बने,
दसे रै शौऊ हुए।	दस के सौ हुए।

शौऊआ रे सैंसर बणै,	*सौ के सहस्र बनें,*
सैंसरैं परिथी भौरी।	*सहस्रों के विस्तार से पृथ्वी भर गई।*

कुल्लू जनपद के निरमण्ड क्षेत्र की एक देव-गाथा में सृष्टि रचना सम्बन्धी वृत्तान्त इस प्रकार व्यक्त किया जाता है –

गौरी पूछा,	*गौरी (माता पार्वती) ने पूछा,*
ईशुरा देवा,	*ईश्वर (शिव) देव,*
कुणी लेओ,	*किसने लिया,*
पहले जोरमो ना।	*पहले जन्म।*
ईशुरा बोला,	*शिव बोले,*
गौरी मत पूछ,	*गौरी मत पूछ,*
एआ बाता।	*इन बातों को।*
पहले जौरमो लेओ,	*पहले जन्म लिया,*
तैं शक्ति माते।	*शक्ति माता के रूप में तुमने।*
तेखो जौरमो लेओ,	*उसके बाद जन्म लिया,*
सौदाशिवे।	*सदाशिव ने।*
तेखो जौरमो लेओ,	*उसके बाद जन्म लिया,*
ब्रह्म देवे।	*ब्रह्मा देवता ने।*
तेखो जौरमो लेओ,	*उसके बाद जन्म लिया,*
विष्णु देवे।	*विष्णु देव ने।*
गौरी पूछा,	*गौरी ने पूछा,*
ईशुरा देवा,	*शिव देवता,*
कैणो चाणो संसारा ?	*संसार किसने बनाया ?*
ईशुरा बोला,	*शिव बोले,*
संसार चाणो,	*संसार बनाया,*
तेऊए सौदाशिवे।	*उन्हीं सदाशिव ने।*
गौरी बोला,	*गौरी बोली,*
ईशुरा लै,	*शिवजी से,*
कुणो चाणो संसारा ?	*संसार कैसे बनाया ?*
ईशुरा बोला,	*शिवजी बोले,*
गौरी लै,	*गौरी से,*
शेरे,	*सिर पर (ऊपर)*

काशू तौले मौंडपा।	*आकाश-मण्डप बनाया।*
पैरे गूठे सीयो पैताला।	*पैर के अंगूठे से नीचे पाताल बनाया।*
मांझ परिथी बौणो।	*बीच में पृथ्वी बनाई।*

सृष्टि की रचना के बारे में कुल्लू में एक लोक कथा प्रचलित है। इस कथा में बताया जाता है कि महाप्रलय काल में सर्वत्र घोर अन्धकार छाया हुआ था। उस अन्धकार के बीच पानी का महासमुद्र था। भगवान् ने जब महाप्रलय के बाद सृष्टि रचना की इच्छा की तो सबसे पहले महामाया शक्ति का आविर्भाव हुआ। महामाया ने चावल के तीन पिंदलू (लड्डू जैसे गोलकार पेड़े) बनाए। उनमें एक पिंदलू पर महामाया ने मंत्र के साथ जल का छींटा फैंका और उस पिंदलू से ब्रह्मा पैदा हुए। ब्रह्मा के पैदा होते ही महामाया ने उससे विवाह करने की बात कही। ब्रह्मा ने कहा कि तुम ने मुझे पैदा किया है, इसलिए तुम मेरी माता हो, मैं तुम से विवाह नहीं कर सकता। महामाया बोली, यदि मेरे से विवाह नहीं करोगे तो तुम्हें फिर से पिंदलू बना दूंगी। ब्रह्मा ने कहा, मैं तुम से विवाह नहीं कर सकता, भले ही तुम मुझे फिर से पिंदलू बना दो। महामाया ने ब्रह्मा को फिर से पिंदलू रूप में परिवर्तित कर दिया।

महामाया ने दूसरे पिंदलू पर जल की छींटा फैंका तो उससे विष्णु पैदा हुआ। विष्णु से भी महामाया ने विवाह करने की बात कही तो विष्णु ने भी ब्रह्मा की भांति कहा कि तुमने मुझे पैदा किया है तो तुम मेरी माता हो, तुम से मैं विवाह किसी भी स्थिति में नहीं कर सकता। उन्हें फिर से पिंदलू बनाने की चेतावनी दी गई। विष्णु ने भी विवाह का प्रस्ताव नहीं माना और पिंदलू बनना स्वीकार किया। महामाया ने विष्णु को फिर से पिंदलू बना दिया।

इसके बाद महामाया ने तीसरे पिंदलू पर जल का छींटा फैंका और उससे महादेव शिव पैदा हुआ। जब महादेव शिव से विवाह का प्रस्ताव किया गया तो महादेव ने क्रोधित होकर कहा कि जिसने मुझे पैदा किया, उससे मैं कैसे विवाह कर सकता हूँ ? महामाया ने महादेव को जब फिर से पिंदलू बनाने की बात कही, तब महादेव बोले कि उन्हें कुछ सोच विचार करने दो। महादेव सोच-विचार करने लगे, इसी बीच महामाया के माथे पर उन्हें तीसरी आँख नज़र आई। महादेव समझ गए कि ये सब चमत्कार इसी तीसरी आँख के प्रभाव से हो रहे हैं। महादेव ने महामाया से कहा कि पहले तो तुम ब्रह्मा एवं विष्णु को फिर से प्रकट करो और अपने माथे की तीसरी आँख मुझे प्रदान करो, तब मैं विवाह के विषय में निर्णय दूंगा।

महामाया ने महादेव की बात मान ली। ब्रह्मा और विष्णु को पुन: प्रकट किया और तीसरी आँख महादेव को दे दी। तब महादेव शिव त्रिनेत्रधारी बने। त्रिनेत्रधारी महादेव ने महामाया से कहा कि मैं अभी तो तुम से विवाह नहीं कर सकता। तुम्हें मुझे वर रूप में प्राप्त करने के लिए तपस्या करनी होगी। उसके बाद जब तुम यह शरीर त्याग कर दूसरा जन्म लोगी, तब मैं तुम्हारा पति बनूंगा। महामाया ने तपस्या कर के राजा दक्ष के घर सती के रूप में पुनर्जन्म लिया। तब महादेव शिव और महामाया सती पति-पत्नी बने।

महादेव के निर्णय पर महामाया तपस्या के लिए चली गई। ब्रह्मा, विष्णु और महादेव शिव, तीनों मिल कर सृष्टि की रचना के सम्बन्ध में विचार करने लगे। महादेव ने इस सम्बन्ध में महामाया से ही परामर्श करने का सुझाव दिया। तीनों ने महामाया का आह्वान किया। महामाया प्रकट हुई। त्रिदेवों ने उनसे सृष्टि रचना के विधान बतलाने की प्रार्थना की। महामाया ने बतलाया कि महासमुद्र में बहुत गहरे जा कर भगवती त्रिपुरा सुन्दरी का वास है। महादेव उनके पास जाएं और उनसे एक मुट्‌ठी मिट्‌टी ले आएं। उस मिट्‌टी को समुद्र पर फैलाएं। इससे पृथ्वी बन जाएगी। इससे अतिरिक्त सूरज, चांद, तारे आदि ब्रह्माण्ड के तत्त्वों की रचना मैं स्वयं करूंगी। सृष्टि में सभी सजीव और निर्जीव पदार्थों का सृजन ब्रह्मा करेंगे। विष्णु सकल पदार्थों की रक्षा एवं इनका पालन-पोषण करेंगे। महादेव कालक्रम से सृजित पदार्थों का संहार करेंगे। जब महाप्रलय का काल आएगा तो महादेव द्वारा सम्पूर्ण सृष्टि का संहार होगा। सारी सृष्टि परमेश्वर के अव्यक्त स्वरूप में विलीन हो जाएगी। बाद में परमेश्वर की इच्छा एवं प्रेरणा होने पर फिर से इसी रूप में सृष्टि का नव-सृजन होगा।

महामाया के परामर्श के अनुसार महादेव समुद्र के बीच भगवती त्रिपुरासुन्दरी के पास जा पहुंचे। उनसे पृथ्वी बनाने के लिए एक मुट्‌ठी मिट्‌टी मांगी। भगवती त्रिपुरासुन्दरी ने एक मुट्‌ठी मिट्‌टी महादेव को प्रदान की। महादेव मिट्‌टी ले कर समुद्र के जल के ऊपर आए। उन्होंने मिट्‌टी समुद्र पर फैला दी और इससे पृथ्वी का निर्माण हुआ। महामाया ने सूरज, चांद आदि ब्रह्माण्ड के तत्त्वों की रचना की। ब्रह्मा ने सभी निर्जीव और सजीव पदार्थों को सृजित किया। विष्णु नारायण सब का पालन-पोषण करने लगे। महादेव शिव ने सकल जगत् के संहार का दायित्व संभाल लिया। इसी प्रकार से सृष्टि की संस्थिति, संहार और सृजन का विधान चलता आ रहा है।

संगीत प्राध्यापक,
राजकीय महाविद्यालय कुल्लू,
ज़िला कुल्लू (हिमाचल प्रदेश)

सतलुज नदी घाटी में सृष्टि गाथा

दीपक शर्मा

हिमाचल प्रदेश की सतलुज नदी घाटी में कुल्लू जिला के बाहरी सिराज तथा शिमला जिला के रामपुर क्षेत्र में सृष्टि गाथा का गायन निम्नलिखित रूप में प्रचलित है —

मूल रूप	*हिन्दी रूपान्तर*
पहले ज़ौरमों हुंकारी राजा	*सबसे पहले 'ॐ' आकार राजा प्रकट हुए*
तेखो ज़ौरमों धुंकारी राजा	*उसके बाद धूम आकार यज्ञ राजा पैदा हुए*
तेउएं बोलै राज नीसौ चाली देवा	*उनसे संसारिक राज संचालित नहीं हो सका*
तेखो ज़ौरमों शांहकारी राजा देवा	*तब शब्दाकार आकाश राजा पैदा हुए*
तेखो ज़ौरमों हांकारी राजा देवा	*उसके बाद अहंकार राजा ने जन्म लिया*
इनें जाणै राज़ नीसौ चाली देवा	*इनके द्वारा भी राज्य संचालन नहीं हो सका*
फेर परिथवी न्याहरौ हौआ घूरा	*तब पृथ्वी पर घनघोर अन्धकार हुआ*
पूरबा फिरी पौउणा बरूरा	*पूर्व से पवन का प्रवाह चला*
पछमा फिरी पाणी बरूरा	*पश्चिम में पानी बरसा*
पौउणां पाणिओं सौंगा बाजो साथा	*पवन पानी के परस्पर टकराव के साथ*
मांझी सौरे पाणी बाजो पुडू	*सरोवर के बीच पानी में बुलबुला उठा*
सौरा भितरी शेपू लागे शेपू देवा	*सरोवर के बीच झाग ही झाग हुई*
शेपू फुटिया पुडू बाजै पुडू देवा	*झाग के बिखरने से बुलबुला उठा*
पुडू फुटिया लिंगा बाह्जों लिंगा देवा	*बुलबुले के फटने से विशाल लिंग पैदा हुआ*
लिंगा बाह्जों जौरम निसौ हुई	*केवल लिंग के रहते किसी जन्म का विकास नहीं हुआ*
तैबै जाईके सौरा भिण्डीए फिरला जौरमी डाळी	*तब सरोवर के बीच से फिरल नाम की डाली निकली*
सौरा भिण्डीए घिरला जोमी चेली	*सरोवर के बीच से घिरल नाम का पक्षी पैदा हुआ*
फिरला डाळीए घिरलै बाड़ौ कोह्ला	*फिरल डाली पर घिरल ने घौंसला बनाया*
तेथा भितरी त्राई पाए आण्डे	*उसके भीतर तीन अण्डे डाले*
सैई आण्डै सौरा पौड़े भितरी	*वह अण्डे सरोवर के भीतर पड़े*

तैबै जाईके शैइला का शौक्ती फाटी	*तब जा के शैल(बड़ी चट्टान)से शक्ति प्रकट हुई*
शौक्तिए दैनो शैड़ैओ	*शक्ति ने घोर ध्वनि की*
सौए जाउओ सोए तरेउओ	*उन अण्डों में एक अण्डा तोड़ा और उससे जीव रूप में पक्षी निकला*
बैणे बोला शौक्ति माता	*शक्ति माता ने वाणी बोली*
बोलो चीडूआ नौए खौण्डै बाणी	*बोल पक्षी नौ खण्ड की वाणी बोल*
नौए खौण्डौ चीडू बोला	*पक्षी बोला नौ खण्ड के बारे में*
मूं ना माए एहा गौला ज़ाणू	*मुझे माता! इन बातों की जानकारी नहीं है*
दूजौ जाउओ दूजौ तरेउओ	*दूसरा अण्डा तोड़ा, दूसरा जीव निकला*
बैणे बोला शौक्ति माता	*शक्ति माता ने वाणी कही*
बोले चीडूआ नौए खौण्डै बाणी	*बोल पक्षी नौ खण्ड की वाणी*
नौए खौण्डा चीडू वौला	*पक्षी बोला नौ खण्ड बारे*
मूं ना माए एहा गौला जाणू	*माता! मुझे इन बातों की जानकारी नहीं है*
सैए गै चीडू तै माए घूटै	*उस पक्षी ने माता का स्तनपान किया*
चीओ जाउओ चीओ तरेउओ	*तीसरा अण्डा तोड़ा तो तीसरा जीव निकला*
बैणे बोला शौक्ति माता	*शक्ति माता वाणी बोली*
बोले चीडूआ नौए खौण्डै बाणी	*बोल पक्षी नौ खण्ड की वाणी*
बैणे बोला नौए खौण्डै चीडू	*पक्षी ने नौ खण्ड की वाणी बोली*
एका गौला माए बौधकी शूणी	*माता! एक बात मैं ने निराली सुनी*
लोहे दी डूणागे लागी	*ऊन में लगने वाला कीट डूणांगा लोहे में लग गया है*
दूजी गौला माए बौधकी शूणी	*माता! दूसरी बात मैं ने निराली सुनी*
मूशै मारी बरैळी	*चूहे ने बिल्ली को मार दिया*
चीई गौला माए बौधकी शूणी	*माता! तीसरी बात मैं ने निराली सुनी*
बाकरिए बराघ मारौ	*बकरी ने बाघ को मार दिया*
बैणे बोला शौक्ति माता	*शक्ति माता ने वाणी बोली*
कूणे कोरा मातो व्याहो	*मेरे से विवाह कौन करेगा*
ए गौला माए हामा लै न बोले	*माता! यह बात हमसे न बोल*
शूणै मातै बैणुआ रा मेरो	*सुन माता! मेरी बात*
पैहलै जोरमौं तीना काढे तू ओरु	*पहले जो पैदा हुए उन्हें प्रकट कर*
तैबै देऊं तोलै एथो ज्वाबा	*तब मैं तुम्हें जवाब दूंगा*
माता व्याहौ कौराएगौ सौदा शिवा	*माता! सदाशिव तुम से विवाह करेंगे*
तेसा जाणू गो उड़ाटी आई	*यह जानकर भीतर से वाणी निकली*

जेठो ब्राह्मा कान्हो देऊ विष्णु	*बड़ा देवता ब्रह्मा, छोटा देवता विष्णु*
बैणे बोला शौक्ति माता	*शक्ति माता ने वाणी कहीं*
तू बी नाए हौरी पैताळै	*तू देख पाताल में जा*
तीदि तू बी आपणे नानू पुच्छे	*वहाँ अपने नाना से पूछ*
बैणे बोला पैतालै नानू	*पाताल में नाना ने वाणी बोली*
बोले दूजे तारै गोला तै हा लै	*बोले अभी दूसरी बात रहने दे*
सौरा भिण्डी ओरू हेरा पोरू	*सरोवर में आर—पार देखो*
मौने सुंचा ईशुरा देऊ	*मन में ईश्वर देवता सोचने लगे*
कैणों जौमों केंकी कगारी	*मैं अकेला कंगाल क्या पैदा हुआ हूँ*
नोहीं मेरो दूजो चीऔ	*मेरा दूसरा कोई बच्चा नहीं है*
नौहीं मेरो सौंगी साथी	*न ही मेरे संगी साथी हैं*
नौहीं मेरो माता पिता	*न ही मेरे माता पिता हैं*
ध्यानै मौने सूचणी पौड़ो	*ध्यान मग्न होकर सोच में पड़ गए*
सुंची सोठिया छिंका आई छिंका	*सोचते सोचते छींक आ गई*
सोए छिंका हाथडुए लहाफी	*उस छींक को हाथ में पकड़ा*
जोए छिंका मेरे मौना का उपनी	*यह छींक मेरे मन से उत्पन्न हुई*
सोए छिंका पूरबा लै शोटीं	*उस छींक को पूर्व दिशा में फेंका*
नाओं डाहो मनसा देवी	*उससे जो देवी पैदा हुई, उसका नाम मनसा देवी रखा*
मौने सुंचा ईशुरा देऊ	*ईश्वर देवता मन में सोचने लगे*
जोए हुओ दुजो चीऔ	*जो यह दूसरा प्राणी हुआ*
जोए हुओ सौंगी साथी	*जो संगी साथी हुआ*
माता मेरो पौउण पाणी	*हवा पानी मेरी माता है*
पिता मेरो धरतरी चाणी	*धरती पर फैला आकाश मेरा पिता है*
सौरा भिण्डी ओरा हेरू पोरू	*सरोवर में आर—पार देखा*
फेर परिथवी न्याहरा घूरा धुंधुकारा	*फिर पृथ्वी पर घोर अन्धकार छा गया*
धुंधुकारा सो कैणो सणसारा	*संसार में यह कैसा अन्धकार छा गया है*
मौने सुंचा ईशुरा देवा	*ईश्वर देवता मन में विचार करने लगे*
फेर परिथवी ती कौरनी परैशी	*पृथ्वी पर फिर से प्रकाश करना था*
माथै मौळिया दूई काड़ी मिंगड़ी	*माथा मल—मथ कर दो मींगने निकाली*
सोए मिंगड़ी पूरबा लै शेटी	*वे मींगने पूर्व में फेंकी*
बौणी आए सूरज चौन्द्रा	*उनसे सूरज और चन्द्र बन गए*
सूरजा चौन्द्रा राज मांगा	*सूरज और चन्द्र ने राज्य मांगा*
मौने सुंचा ईशुरा देऊ	*ईश्वर देवता ने मन में विचार किया*

कैणो राज इना ले देऊ	*किस तरह इन्हें राज्य दूं*
जैणो ना जांड़िया	*जब तक यह न जानें*
कुणा कौन्हो कुणा जेठौ	*कौन छोटा कौन बड़ा*
कौन्हे देवे चौन्द्रा धारौ	*छोटा देवता चन्द्र हुआ*
राची राज चौन्द्रा ले धिनों	*रात का राज्य चन्द्र को दिया*
जेठै देवे सूरजौ धारौ	*बड़ा देवता सूरज हुआ*
ध्याड़ी राज सूरजा ले धिनों	*दिन का राज्य सूरज को दिया*
न्याहरी परिथवी परैशी हुई	*अन्धेरी पृथ्वी पर प्रकाश फेला*

यहाँ के लोक गायन में मनुष्य की रचना के सम्बन्ध में कहा गया है कि ईश्वर ने मनुष्य की मूर्तियाँ भिन्न–भिन्न धातुओं की बनाई, लेकिन उनमें प्राण शक्ति नहीं आई। अन्त में भस्म अंगारों की मूर्ति बनाई। वह मूर्ति प्राणवान् हो गई और इस तरह मनुष्य अस्तित्त्व में आया। गाथा का स्वरूप निम्नलिखित रूप में है–

ताम्बे पीताल़े सै मुराती बणाई	*ताम्बा पीतल की वह मूर्ति बनाई*
सैए मुराती दुरभी बशैई	*उस मूर्ति को कुशा पर बैठाया*
देऊ विशणु सौ हाका मारा हाका	*विष्णु देव ने आवाज लगाई*
तौमै मुराती बौणी की ना बौणी	*तुम मूर्ति बनी की नहीं बनी*
सै गौ मुराती बैणा ना बोला	*उस मूर्ति से वाणी नहीं निकली*
सोने चांदीए सै मुराती बणाई	*सोने चांदी की वह मूर्ति बनाई*
सै गौ मुराती बी बैणा न बोला	*उस मूर्ति ने भी वाणी नहीं बोली*
छारा गारा री गौ मुराती बणाई	*भस्म अंगारों की मूर्ति बनाई*
बैणे गोनू बोला सै छारा गारै मुराती	*भस्म अंगारों की मूर्ति ने वाणी बोली*
हामै बौणी गई बौणी ईशुरा	*हम बन गई, ईश्वर हम बन गई*

सृष्टि में त्रिदेव ब्रह्मा, विष्णु, शिव मानव लीला करते हुए परस्पर विवाद में उलझते हैं और फिर तीनों सृष्टि का बंटवारा करते हैं और उसी के अनुसार तीनों देव सृष्टि का संचालन करते हैं। इस गाथा का गायन निम्नलिखित रूप में प्रचलित है–

शिवा देवा बोला धरतरी मेरी	*देवता शिव बोले धरती मेरी*
विशणु देवा बोला धरतरी मेरी	*देवता विष्णु बोले धरती मेरी*
ब्रह्मा देवा बोला धरतरी मेरी	*देवता ब्रह्मा बोले धरती मेरी*
चौणी भाइए इने हौठड़ौ लागो	*तीनों भाई ऐसी हठ करने लगे*
बैणे बोला हे शिवा देऊ	*शिव देवता ने वाणी कही*
रोइआ राजा भाइयो	*रो कर राज्य भाइयो*
कौसी नै ना मैल़ा	*किसी को नहीं मिला*
आच्छी कै भाइयो	*अच्छा यह होगा, भाइयो*
म्हारे बाण्डै कौरने खाण्डै	*हम बंटवारा करें*

नौई मुठी देवे गौज़ा	नौ मुट्ठी माप का गज (लौह दण्ड) है
कांह्डौ गौज़ा	गज को निकालो
गौज़ा कोरी तिने	गज से उन्होंने
बाण्डै लागै खाण्डै	बंटवारा किया
कांडै खागे काटै	ऊंचे पर्वत बांटे
नेउड़े काटै बागे	निम्न क्षेत्र का विभाजन किया
ब्रह्मा विशणु शिव लागै बाण्डै	ब्रह्मा विष्णु शिव में बंटवारा हुआ
शिवै बांडै नाहौ पारवती कांडौ	पार्वती काण्डा (हिमालय क्षेत्र) शिव के हिस्से में आया
विशणुए बांडै नाहौ ऐ नौई खौण्डा	विष्णु के हिस्से में गये नौ खण्ड
ब्रह्मे बांडै आओ हौरी माता लोगा	ब्रह्मा के हिस्से में आया मृत्युलोक
शिवा देऊ नाहौ पारवती कांडै	शिव देव पार्वती काण्डा हिमालय में गए
विशणु देऊ नाहौ ए नौई खौण्डै	विष्णु देव नौ खण्ड क्षेत्र में गए
ब्रह्मा देऊ आओ हौरी माता लोगो	ब्रह्मा देवता मृत्युलोक में आए
घौरै पुछा सौ भाटे बरामणी	घर में भाट की ब्राह्मणी ने पूछा
कैणे थार जै बांडे हुए खाण्डै	तुम्हारा बंटवारा कैसा हुआ
आछी कै बरामणिये	अच्छा हुआ ब्राह्मणी
बांडै हुए म्हारे खाण्डै	अलग–अलग विभाजन हमारा
नौई खौण्डा जो	तभी नौ खण्ड में
न्याहरौ होआ घूरा	घनघोर अन्धेरा हो गया
बांबें हाथै देवे दियो बरशाउओ	बाएं हाथ से विष्णु ने दीपकों की वर्षा कर दी
नौई खौण्डा देवा हुऔ परेशो	नौ खण्ड में प्रकाश हो गया
तैथै हौआ सै लाबणकाने	वहां वह बड़े-बड़े कान वाला हुआ
तैथै हौआ देवा सुंगर मुखै	वहां भगवान बाराह मुख हुए
तैथै हौआ देवा कुकर मुखै	वहां भगवान कुत्ते के मुख रूप में हुए
तैथै देवा डौरी आऔ डौरी	वहां भगवान को डर लगने लगा
फेर परिथवी रौणीं लाई बौउणी	फिर विष्णु पृथ्वी को जोतने और बोने लगे
लोहे ओ हौला लोहे ओ लाओ जोंआ	लोहे का हल, लोहे का ही जुंगड़ा
सिंहगे बौलदा सरपे केरी छीऊं	शेर बनाए बैल, सांप की बनाई बैल हांकने की टहनी
फेर परिथवी रौंवीं हेरी बौंबी	फिर पृथ्वी को जोतने और बोने लगे।

गांव व डाकघर – निरमण्ड
जिला – कुल्लू(हि०प्र०)